मानस में रामकथा

डा० बलदेव प्रसाद मिश्र

एम. ए. डी. लिट.

वंगीय हिन्दी परिषद

कलकत्ता

दो शब्द

यह पुस्तक बङ्गीय हिन्दी परिषद् की प्रेरणा से लिखी गई है। बिगड़े हुए स्वास्थ्य में इतना भी लिखते बना यही बहुत है। इसके परिच्छेदों की सामग्री, निबन्ध और व्याख्यान दोनों दृष्टिकोणों की पूर्ति करती है और प्रत्येक परिच्छेद अपने में पूर्ण-सा है, अतएव कहीं कहीं कोई-कोई विषय दुहराये हुए से जान पड़ेंगे। आशा है, इस प्रकार की पुनरावृत्ति पाठकों को अरुचिकर न प्रतीत होगी। इसकी हस्तलिपि तैयार करने में श्री काशी प्रसाद मिश्र, श्री श्रीकृष्ण चितलांग्या तथा श्री पुखराज कोठारी ने मेरी सहायता की है। प्रकाशन तो परिषद् का है ही। वस्तु जैसी भी है, पाठकों के सामने है।

विजयादशमी २००८ — बलदेव प्रसाद मिश्र

निवेदन

सन् १९४९ में अपनी परंपरा के अनुसार परिषद् ने डा० रामप्रसाद त्रिपाठी एम. ए. डी. एस. सी. के सभापतित्व में तुलसी जयन्ती का समारोह स्वर्गीय श्री रायबहादुर जी लमगोड़ा की अन्तिम कृति "रामराज्य" के प्रकाशन सहित सम्पन्न किया था। उसी अवसर पर उस समय के प्रान्तपाल माननीय डा. कैलाशनाथ काटजू ने प्रधान अतिथि के पद से भाषण देते हुए तुलसी संबंधी अनेक आवश्यक समस्याओं की ओर साहित्यिकों का ध्यान आकृष्ट करते हुए सुझाव पेश किया था कि तुलसी साहित्य का अधिक विवेचनात्मक अध्ययन अविलम्ब होना चाहिए। तुलसी के जिस मानस ने सैकड़ों वर्ष पहले गुमराह मानव का सफल पथ प्रदर्शन किया था उसमें निहित संदेश आज के मानव के लिए भी उस से कम आवश्यक नहीं।

उनके इस सुझाव से प्रेरित होकर उसी समय परिषद् ने एक विशिष्ट आलोचनात्मक प्रकाशन का सत्संकल्प किया था। यह परम हर्ष का विषय है कि इस संकल्प की पूर्ति के निमित्त परिषद् के अभिभावक एवं सम्मानित सदस्य श्री बल्लभदासजी अग्रवाल ने दो हजार की निधि देने की घोषणा की थी। इस महत्वपूर्ण आलोचनात्मक अध्ययन के प्रणयन के लिए परिषद् ने अपने परम

सम्मानित सदस्य तुलसी साहित्य के प्रसिद्ध एवं मर्मज्ञ पंडित डा. बलदेवप्रसाद मिश्र को आमंत्रित किया। अस्वस्थ होते हुए भी डा० बलदेव प्रसादजी मिश्र ने परिषद के निमंत्रण की सम्मान रक्षा के विचार से इस निमंत्रण को स्वीकार करने की कृपा की। लगभग दो वर्ष में यह पांडित्यपूर्ण अध्ययन समाप्त हो गया।

इस विशिष्ट प्रकाशन के महत्व को दृष्टि में रखते हुए काशी विश्वविद्यालय के उपकुलपति आचार्य नरेन्द्रदेव के सभापतित्व में परिषद आज एक विशेष समारोह के आयोजन के साथ अपने नवीनतम प्रकाशन–'मानस में राम कथा' को भारती के कोष में समर्पित कर रही है, इस विश्वास के साथ, कि यह रचना अपना उचित स्थान एवं सम्मान प्राप्त करेगी।

वंगीय हिन्दी परिषद्
१५, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट
कलकत्ता – १२
३ मार्च '५२

विनीत
तारकनाथ अग्रवाल
मंत्री

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

रामकथा का उद्गम, विकास और महत्त्व

गोस्वामीजी के पहिले रामकथा का खूब प्रचार हो चुका था। भारत ही में नहीं, भारत के बाहर भी कई देशों के लोक-जीवन में यह कथा घर कर चुकी थी। निगम, आगम और पुराणों ही में नहीं, अनेकानेक महाकाव्यों तक में, भगवान राम को लेकर उत्कृष्ट रचनाएँ हुई थीं और बौद्ध तथा जैन-साहित्यों में भी राम तथा राम कथा को सम्मान्य स्थान प्राप्त हो चुका था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, विविध देशों और प्रदेशों की भाषाएं, सभी में, राम-विषयक रचनाएँ ढेर-की-ढेर भरी थीं। अतएव मानस-रचना की मानसिक भूमिका पर कुछ कहने के पहिले उत्तम होगा कि रामकथा के उद्गम और विकास पर भी कुछ कह लिया जाय।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में राम और कृष्ण ही दो ऐसे महापुरुष हैं जो सूर्य और चन्द्र की भांति सबसे अधिक देदीप्यमान् हैं। कृष्ण की दीप्ति को वाणी में उतारा महर्षि व्यास ने और राम की दीप्ति को वाणी में उतारा महर्षि वाल्मीकि ने। कृष्ण की महिमा बहुत फैल चुकी थी और गौतम बुद्ध के समय तक उनकी उपासना के सम्प्रदाय भी बन चुके थे। राम की महिमा, जान पड़ता है, कुछ देर बाद फैली ; परन्तु फैली वह भी इतने वेग से कि, उसने उन्हें "विष्णु कोटि सम पालनकर्त्ता" बना दिया।

कृष्ण ऐतिहासिक महापुरुष हैं कि नहीं, इसपर अनेक लोगों ने, अनेक प्रकार की कल्पनाएँ भिड़ाई हैं। भण्डारकर सरीखे विद्वान् भी वासुदेव कृष्ण और गोपाल कृष्ण में भेद दिखाते हुए चले। परन्तु किसी-न-किसी रूप में उनकी ऐतिहासिकता प्रायः सभी विद्वानों द्वारा स्वीकृत ही हुई है। राम के विषय में यह कहना कठिन है। फिर भी कोई ऐसे निश्चित प्रमाण नहीं दिए जा सकते जिनके आधार पर रामकथा को केवल काल्पनिक कहा जा सके। अन्तः साक्ष्य तो उसकी ऐतिहासिकता पर ही ज़ोर देता है।

गोस्वामी जी ने वेदों का अर्थ समझा था, वह सब साहित्य, जो वैदिक साहित्य के नाम से प्रचलित है। कई उपनिषद् ऐसी बन चुकी हैं जिनमें रामभक्ति और रामकथा की खूब चर्चा है। गोस्वामी जी के 'निगम' इन सबको समेटे हुए हैं। आजकल के समीक्षकों ने वैदिक साहित्य में केवल संहिता और ख़ास-ख़ास ब्राह्मणों, उपनिषदों आदि को ही लिया है।

उन ग्रन्थों में राम-कथा का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। फिर

भी दशरथ, जनक, सीता आदि नाम तो उन ग्रन्थों में आ ही गये हैं। राम राजा का नाम भी ऋग्वेद में एक जगह आ ही गया है। "प्रतद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु। ये युक्त्वाय पञ्च शतास्मयु पथा विश्राव्येसाम्॥ (१०,९३,१४)" [भाव यह कि "मैंने राम आदि यजमानों के लिए यह सूक्त गाया है, जिन्होंने पांच सौ रथ जुतवाये।"] राम नामधारी अन्य व्यक्ति तो कई उल्लिखित हुए हैं। राम नाम तो उस समय इतना प्रचलित था कि इस नाम के धारी लोग न केवल भारत में ही पाये जाते थे, किन्तु मिश्र के रमसेस, ईरान के राम हुआस्त्र, असीरिया के रम्मन अथवा रामानु आदि में भी उसकी छटा देखी जा सकती थी। भारत में राम नाम इतना सामान्य बन चुका था कि "रमणीय पुत्र" के अर्थ में भी वह प्रयुक्त होने लगा था। (देखिये—'नास्य राम उच्छिष्टं पिबेत्'—तैत्रिरीय आरण्यक ५-८-१३)।

वैदिक साहित्य के बाद तीन स्रोतों की रचनाएँ हमारे सामने आती हैं जिनमें राम-कथा की चर्चा है। उत्तर भारत के पश्चिमी अञ्चल से महाभारत रामकथा की सामग्री देता है, पूर्वी अञ्चल से बौद्ध जातक वह सामग्री देते हैं और मध्य अञ्चल से वाल्मीकीय रामायण वह सामग्री देती है। तीनों प्रकार की सामग्रियों में पर्याप्त अन्तर है। महाभारत के रामोपाख्यान के अनुसार कैकेयी को केवल एक वर मिला था, बालि तथा सुग्रीव का केवल एक द्वन्द्व युद्ध हुआ था, समुद्र ने स्वप्न में आकर सहायता करने की प्रतिज्ञा की थी, न कि किसी निग्रह के कारण प्रत्यक्ष आकर। लक्ष्मण को शक्ति लगने अथवा द्रोणाचल की औषधि लाने का इसमें कोई

उल्लेख नहीं ; न सीता की अग्नि-परीक्षा का ही कोई उल्लेख है। बौद्ध जातकों की रामकथा का रूप तो एकदम विचित्र है। उनके "दशरथ जातक" के अनुसार दशरथ बनारस के राजा थे जिनकी प्रथम रानी से राम, लक्ष्मण तथा सीता की उत्पत्ति हुई और उन प्रथम रानी की मृत्यु के बाद दूसरी रानी से भरत कुमार हुए। इन दूसरी रानी ने एक वरदान पाया था। उसके आधार पर भरत के लिये राज्य मांगा गया। राजा को ज्योतिषियों से मालूम हुआ कि वे बारह वर्षों तक जियेंगे। अतएव उन्होंने बड़े कुमारों से कहा कि वे बारह वर्ष वन में रहकर बिता दें और तदनन्तर राज्य करने बनारस पहुँच जायँ। नौ वर्षों बाद दशरथ की मृत्यु होती है। भरत राजा बनने से इन्कार करते और राम को मनाने जाते हैं। राम तीन वर्ष और बिता देना चाहते और अपनी तृण पादुकाएँ प्रतिनिधि रूप से भरत को दे देते हैं। पूरे बारह वर्ष बीतने पर वे लौटकर अपनी बहिन सीता से विवाह करते और न्यायपूर्वक राज्य करते हैं। बौद्धों के "अनामक जातक" के अनुसार राम अपने मामा के आक्रमण की तैयारियां सुनकर ही अपने-आप राज्य छोड़ देते हैं, न कि अपनी विमाता की प्रेरणा से। जातक स्वतः साक्षी हैं कि उन्होंने अथवा उनके वक्ता श्री गौतम बुद्ध ने "पौराणिक पण्डितों" से यह राम-कथा पाई थी। अतएव बौद्ध लोग इस कथा के आदि प्रवर्त्तक नहीं कहे जा सकते। अब रही वाल्मीकीय रामायण ; सो इसमें रामकथा का जो रूप है वह तो सबको विदित ही है। इसीमें रामकथा का सच्चा मूलरूप सुरक्षित है ऐसा उसके अन्तःसाक्ष्य के आधार पर, निःसंकोच कहा जा

सकता है। विचारकों के कथनानुसार यह रामायण ईसवी सन् के लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व रची गयी। परन्तु शीघ्र ही यह भारत में फैल गयी और कुछ ही शताब्दियों बाद इसके पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी, इस तरह तीन भिन्न-भिन्न पाठान्तर हो गये, जिनके कारण उन तीनों स्थलों की रामकथा में भी कुछ भेद आ गया है।

महाभारत, दशरथ-जातक और रामायण के स्रोत प्रायः एक ही समय के हैं; परन्तु उनकी अन्तरंग परीक्षायें करके यही कहा जा सकता है कि रामायण ही इसमें प्राचीनतम है और रामकथा के सम्बन्ध में रामायण ही अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। 'दशरथ जातक' तो उस कथा की एक विकृति मात्र है और महाभारत राम-कथा के नहीं वरन् कृष्णकथा और पाण्डवकथा के लिए विशेष रूप से लिखा गया था। 'बृहद्धर्म पुराण' के ये वाक्य, कि वाल्मीकीय रामायण ही काव्य, इतिहास, पुराण तथा संहिता, और, यहाँ तक कि, महाभारत की रचना की भी प्रेरणादायक रही है, अनुसंधान की दृष्टि से अशुद्ध नहीं जान पड़ते।

जैन रामकथाएं भी उल्लेखनीय हैं यद्यपि ऐतिहासिकता की दृष्टि से वे कुछ पीछे की हैं। उनके अनुसार वानर और राक्षस दोनों विद्याधर-वंश के हैं जो कि मनुष्य ही हैं। पदुम चरिय (पद्म चरित्र) के अनुसार हनुमान् रावण के मित्र हैं, समुद्र और सुवेल राजाओं के नाम हैं, और रावण का वध करते हैं लक्ष्मण, न कि राम। 'उत्तर पुराण' के अनुसार सीता मन्दोदरी की पुत्री हैं। दशरथ अपनी राजधानी बनारस से हटाकर साकेतपुर ले जाते हैं। लक्ष्मण द्वारा ही न केवल रावण का, किन्तु वालिका

भी वध होता है। इन रामकथाओं में भी बौद्धों के बोधि सत्व की तरह, जैनों के आठवें बलदेव के रूप में तो राम पूज्य हो ही चुके थे और त्रिषष्टि महापुरुषों में उनकी गणना होने ही लगी थी।

रामकथा की धाराएं उत्तर और दक्षिण की ओर फैलती फैलती विदेशों तक पहुंच गई और वहां पहुंचकर उन्होंने अपने और भी अधिक विचित्र रूप धारण कर लिये। 'दशरथ जातक' का चीनी में अनुवाद हुआ ही था। बौद्ध और जैन-कथाओं को लेकर तिब्बती रामायण बनी। इसी प्रकार पूर्वी तुर्किस्तान में खोतानी रामायण बनी। दक्षिण के हिन्देशिया में 'रामायण का काविन' और 'सेरत राम' की रचनाएँ हुई तथा अर्वाचीन काल में 'हिकायत सेरी राम' और 'सेरत काण्ड' की रचनाएँ हुई, जिन रामायणों का प्रचार हिन्दचीन, श्याम और ब्रह्मदेश तक फैल गया है। वहां की 'रेआम केर (राम कीर्ति)' 'राम कि येन,' 'राम जातक' 'राम यागम' आदि रचनाओं के नाम भी इसी संबन्ध में गिनाए जा सकते हैं। कहीं रावण राम का चचेरा भाई मान लिया गया है (उदाहरणार्थ 'राम जातक' में), कहीं हनुमान की बहुत सी प्रेम-लीलाओं का वर्णन है (उदाहरणार्थ 'राम कि येन' में), कहीं मन्दुदरी को दशरथ-पत्नी तथा मया-मन्दुदरी को सीताकी माता कहा गया है (उदाहरणार्थ 'हिकायत सेरी राम' में), कहीं बालि ही लंकादहन करके सीता को राम के पास ले आता है (उदाहरणार्थ 'सिंहली रामायण' में) परन्तु रामकथा का मुख्य कथानक प्रायः सब कहीं एक समान ही है।

सनातन धर्मावलम्बी विचार-पद्धति का जो साहित्य भारत में निर्मित हुआ उसमें रामकथा का श्रद्धापरक रूप ही निखरा हो. यह बात नहीं है। 'राम तापनीय' 'राम रहस्य' आदि उपनिषदें, और 'अध्यात्म रामायण' आदि रामायणें, रामभक्ति के प्रचार में बनीं तथा अनेक पुराणों में भी रामकथा के श्रद्धापरक रूप पर पर्याप्त बल दिया गया तथा कहीं-कहीं कथा-भेद भी किया गया है, परन्तु कई रामायण तथा पुराण आदि ऐसे भी निर्मित हुये जिनमें राम कथा के कौतूहल-परक और शृंगार-परक रूप को भी सामने लाया गया है और इस सम्बन्ध से रामकथा में अनेक फेरफार तक कर दिये गये हैं। उदाहरणार्थ "अद्भुत रामायण" में सहस्रमुख रावण का वध सीता द्वारा कराया जाता है, 'आनन्द रामायण' में 'विलास काण्ड' ही रच दिया गया है जिसमें राम के अगले जन्म में अनेक पत्नियों की प्राप्ति के संकेत आदि हैं। उसी के राज्यकाण्ड में राधा की पूर्वकथा और शतस्कंध रावण आदि की चर्चाएँ हैं 'महारामायण' म राम की रासक्रीड़ा का उल्लेख है। 'सत्या-पाख्यान' और 'हनुमत संहिता' में भी कुछ ऐसी ही बातें हैं। दृश्य काव्यों में तो इस फेरफार की छूट और भी अधिक हो गई है। 'आश्चर्य चूड़ामणि' नामक नाटक ही देख लीजिये. रावण राम बनकर सीता का हरण करता है और सूर्पणखा सीता बनकर राम के पास जाती है। 'प्रसन्न राघव' नाटक के जनक-वाटिका प्रसङ्ग में राम और सीता के साक्षात्कार का वह वर्णन है जिसे गोस्वामीजी तक ने अपने मानस के कथानक में सम्मिलित कर लिया है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं की रामायणों में भी कथावैचित्र्य का क्रम रुका नहीं। बङ्गला की 'कृत्तिवास रामायण' ही देखिये (जिसका हिन्दी-अनुवाद भी हो चुका है), कितनी भिन्न-सी जान पड़ती है कथा उसकी। उड़ीसा की 'विलंका रामायण' देखिये, जिसमें लक्ष-स्कंध रावण तक का वर्णन किया गया है।

शैवों, शाक्तों, जैनों, बौद्धों, कृष्णलीला प्रेमियों, श्रृंगार रस प्रेमियों, अद्‌भुत् रस प्रेमियों, आदि-आदि, के प्रभाव से रामकथा में परिवर्त्तन होते चले गये। स्वतः वाल्मीकीय रामायण में भी अनेक प्रक्षेप होते गये हैं। डाक्टर बुल्के ने अपनी लिखी "रामकथा" नामक पुस्तक में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। जिन्हें इस विषय की विशेष जिज्ञासा हो, वे वह पुस्तक पढ़ सकते हैं।

वाल्मीकीय रामायण की आदिकथा केवल राम के अयन (अर्थात् पर्यटन) के रूप की ही थी। राम के यौवराज्य के समय उनको वनवास दिया गया। वे जङ्गल-जङ्गल भटके, जहां सीता का हरण हुआ और परिणामस्वरूप रावण का वध हुआ। यह भटकना पूरा होने पर उनका राज्याभिषेक किया गया। अतएव आदिकथा केवल अयोध्याकाण्ड से लेकर लङ्का काण्ड की कथावस्तु तक ही सीमित थी। राम-विषयक जिज्ञासा के स्वाभाविक प्रश्नों को लेकर कथा आगे बढ़ाई गई और इस प्रकार फिर बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड की सृष्टि हुई। यह हुआ डाक्टर बुल्के के अनुसार रामकथा के विकास का प्रथम सोपान। अवतार-वाद पुष्ट होने पर तथा राम के विष्णु अवतारी माने जाने पर

रामकथा एक आदर्श मानव क्षत्रिय की कथा ही न रह गई, वरं श्रीहरि की लीला-कथा हो गई। डा० बुल्के के अनुसार यह रामकथा के विकास का दूसरा सोपान हुआ। विदेशों में कथा का केवल पहिले विकास वाला रूप ही फैला है। रामभक्ति की प्रबलता के बाद राम विष्णु के नहीं किन्तु परब्रह्म के पूर्णावतार माने जाने लगे, और इस दृष्टिकोण से रामकथा का समस्त वातावरण फिर बदला। रावण का बैर केवल मुक्ति के लिये बैर रह गया और सीता-हरण केवल माया-सीता का हरण मात्र रह गया। इस विकास में रामकथा विष्णु की अवतार लीला मात्र न रहकर भक्तवत्सल भगवान् राम के गुण कीर्त्तन में लीन हो जाती है। डा० बुल्के के अनुसार यह रामकथा के विकास का तीसरा सोपान हुआ।

कथा वृद्धि के और भी कुछ कारण उन्होंने दिये है। अलौकिकता-प्रदर्शन की चेष्टा, घटनाओं के कारण-निर्देश का प्रयत्न, आदि, इस प्रकार के कारण हैं जिनके बल पर कनकमृग का वृत्तान्त, सीता के अलौकिक जन्म की कथा, हनुमत् चरितावली, आदि की बातें जुड़ती चली गई हैं।

परन्तु इस आश्चर्यजनक विस्तृत विकास का यह अर्थ नहीं कि मूल रामकथा की ऐतिहासिकता भी एकदम संदिग्ध कह दी जाय। आदि-रामायणकार ने राम को ऐतिहासिक महापुरुष मानकर ही अपने आदिकाव्य की रचना की है। यदि उसने बालि के वध को छलपूर्ण सुना तो उसे भी अपने कथानक में ज्यों का त्यों रख दिया है। यह सम्भव है कि प्रचलित वाल्मीकीय

रामायण का मूलस्रोत किसी ऐसी राम-विषयक गाथा में हो जिससे पश्चिम की महाभारतीय और पूर्व की बौद्ध जातकीय कथाओं को भी प्रेरणा मिली हो, परन्तु उस गाथा को सर्वप्रथम छन्दबद्ध किया है रामायणकारने ही, यह निर्विवाद जाना जा सकता है। अपने मूलरूप में यह एकदम स्वाभाविक और मानवीय मनोभावों के सर्वथा अनुकूल थी। पिता का आदेश मानकर एक राजकुमार वन को जाते हैं। उनकी साध्वी सुकुमारी पत्नी भी उनका साथ देती है। वहां एक प्रभुता-मदान्ध सत्ताधीश उस साध्वी बाला को हर ले जाता है जिसकी प्रतिक्रिया में वे राजकुमार वन्यों की सहानुभूति प्राप्त करते और उनकी सहायता से ऐसे प्रबल प्रतिस्पर्धी को भी परास्त करके पत्नी को उन्मुक्त करते और आदेश पूर्ण होने पर पिता के राज्य का उपभोग करते हैं। यही रामायण की मूलकथा है। इस कथा में न तो कोई अस्वाभाविकता है और न कोई अवास्तविकता। अतएव अन्तःसाक्ष्य यही कहता है कि आदि रामायण को ऐतिहासिक न मानने का कोई कारण नहीं जान पड़ता।

मानवीय मनोभावों में काम और क्रोध की सबसे अधिक प्रधानता है। राग और द्वेष अथवा आकर्षण और विकर्षण का द्वन्द्व तो उस दिन से प्रारम्भ हो जाता है, जिस दिन से किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व बनने लगता है। जीव अपने को जगत् से भिन्न समझे या न समझे, परन्तु जिस दिन उसमें 'स्व' की, स्वरक्षा की, प्रवृत्ति आई उसी दिन से उसका यह द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है। मुर्गी का बच्चा पैदा होते ही दाने की ओर आकषण दिखायेगा

और चील कौवे के समान हिंसक प्राणियों की ओर से विकर्षण। यही सृष्टि का नियम है। आहार और विहार के प्रति, अथवा यों कहिये कि कांचन और कामिनी के प्रति, जो आसक्ति होती है, यही काम का प्रवृद्धतम रूप है। अपने स्व के लिए पर के विरोध में उसकी हिंसा तक कर डालना, यही क्रोध का प्रवृद्धतम रूप है। ये दोनों मनोभाव निकृष्टता की सीमा पर भी पहुंचाये जा सकते हैं और उत्कृष्टता की सीमा पर भी। जब ये उत्कृष्टता की ओर ले जाये जाते हैं, तब इनका उदात्तीकरण (Sublimation) होता है। लोक-कल्याण के प्रति, जो स्वार्थ की गन्धि से रहित आकर्षण होता है, वही है उदात्तीकृत काम। इस आकर्षण के आगे मनुष्य की निगाहों में कांचन और कामिनी सभी के मोह फीके पड़ जाते हैं। अपने अथवा पराये किसी के सम्बन्ध में किये गये अन्याय के प्रति जो एक क्रियात्मक रोष होता है वही है उदात्तीकृत क्रोध। इस रोष के आगे व्यक्तिगत विद्वेष अथवा हिंसात्मक वृत्ति को कोई स्थान नहीं रह जाता। काम और क्रोध के इस उदात्तीकरण अथवा अनुदात्तीकरण में ही संस्कृति की उच्चता अथवा नीचता जांची-परखी जाती है। राम का 'काम' इतना उदात्तीकृत था कि उन्होंने धर्मपालन रूपी लोक-कल्याण के प्रति प्रबल आकर्षण दिखाया और उसके लिए रामराज्य के समूचे वैभव तक को प्रसन्नतापूर्वक दूर कर दिया। राम का 'काम' प्रेम का वह रूप धारण कर चुका था कि उन्होंने अपने एक-पत्नीव्रत के आगे आततायी सम्राट् रावण की प्रभावशालिनी बहिन को भी पत्नीत्व के रूप में स्वीकार न किया। राम का 'क्रोध' इतना उदात्तीकृत

था कि उन्होंने अन्याय के प्रतिकार के लिए रावण के समान प्रवल शत्रु से भी संघर्ष किया और जब अवसर पड़ा तब अपने प्रति किये गये अन्याय को पीछे डाल सुग्रीव की सहायता में अपने को आगे वढ़ा दिया। इतना ही नहीं, ऋषियों के प्रति किये गये अत्याचारों के प्रात भी उनकी क्रियात्मकता भलीभाँति जागरूक हो हो गई थी। उन्होंने रावण के अन्याय की सफल प्रतिक्रिया की परन्तु उसका राज्य-वैभव उसी के छोटे भाई को देकर और उसके द्वारा रावण का विधिवत् दाह-कर्म आदि कराकर यह सिद्ध कर दिया कि इनका क्रोध किसी जाति अथवा व्यक्ति के प्रति नहीं, किन्तु व्यक्ति द्वारा किए गये अन्याय और अत्याचार के प्रति था।

काम तथा क्रोध के निकृष्टतम रूप का घनिष्ठ सम्बन्ध है हिंसा से; क्योंकि अन्यायपूर्वक कामिनी अथवा कांचन के अपहरण को, तथा इस अथवा ऐसे ही सम्बन्ध में किये गये परपीड़न को, हिंसा नहीं तो और क्या कहा जा सकता है? काम तथा क्रोध के उत्कृष्टतम रूप का घनिष्ठ सम्बन्ध है अहिंसा से, क्योंकि अहिंसा में लोक-कल्याण के प्रति आकर्षण और किसी भी प्रकार के उत्पीड़न के प्रति क्रियात्मक विकर्षण का भाव स्वभावतः सम्बद्ध है। इस हिंसा और अहिंसा का संघर्ष ही मानव-जीवन का रहस्य है। यही उसके हृदय का सुरासुर-संग्राम अथवा देव-दानव-युद्ध है। इसीके प्रतीक वने रावण और राम जिनके संघर्ष का इतिहास घटित हुआ राम के पर्यटन के समय—रामायण के समय।

रावण ने काम की निकृष्टता दिखाई। उसने सर्वसमर्थ होकर भी वनवासी एकाकी राजकुमार की पत्नी का अपहरण किया।

अतएव राम के क्रोध को स्वभावतः ही सहृदयों की सहानुभूति प्राप्त होनी चाहिये। वह क्रोध क्रियात्मक रूप धारण कर इतना बड़ा प्रतिकार करने में समर्थ हो सका, यह देख किस न्याय-प्रेमी का हृदय प्रफुल्लित न हो जायगा। काम-क्रोध की इस कथा में राम के हृदय के उदात्तीकरण ने चार चाँद लगा दिये। इसीलिए समर्थ कवि वाल्मीकि द्वारा अपनाई जाकर यह कथा, जो निश्चय ही किसी ऐतिहासिक गाथा के आधार पर रही होगी, इतनी लोक-प्रिय हो गई जिसका कोई हिसाब नहीं। राम-कथा की इसी लोक-प्रियता के कारण तो बृहद्धर्म पुराण को कहना पड़ा है :—

रामायणं महा काव्यमादौ वाल्मीकिना कृतम्
तन्मूलं सर्व काव्याना मितिहास पुराणयोः ॥
संहितानां च सर्वासां मूलं रामायणं मतम्
तदेवादर्शमाराध्य वेदव्यासो हरेः कला
चक्रे महाभारताख्य मितिहासं पुरातनम् ॥

(पूर्वभाग अध्याय २५)

हम डा० बुल्के से सर्वथा सहमत हैं जब वे कहते हैं कि मानव-हृदय को आकर्षित करने की जो शक्ति रामकथा में विद्यमान है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।......रामकथा के कला तथा आदर्श के समन्वय ने...भारतीय जनता को सदा प्रभावित किया है।"

रामकथा के इस अद्भुत आकर्षण ने कई विचारकों को यह सोचने के लिए भी प्रेरित किया कि वह एकदम काल्पनिक कथा ही तो नहीं है। वेबर ने समस्त काव्य को एक रूपक माना जिसमें

सीता-रूपी कृषि (आर्य-सभ्यता और आर्य-कृषि-पद्धति) पर दक्षिण के आदिवासियों के आक्रमण की कथा ही सार-रूप में विद्यमान है। सीता का शाब्दिक अर्थ है हल से बनी हुई जुताई की रेखा, भूमि का चिराव, अथवा लाङ्गल-पद्धति। इसी अर्थ को लेकर इस प्रेरणा की उद्भावना हो गई है। जेकोबी आदि ने इसमें वेद-वर्णित इन्द्र-वृत्त-युद्ध की छटा देखी। कवि बनारसीदास, तुलसी साहब तथा अन्य कई सन्तों और विचारकों ने "बिराजै रामायण घट माहीं" का स्वर ऊंचा कर घट-रामायण की बातें कहीं और रामकथा को दार्शनिक तत्वों के विवेचन करनेवाला एक काल्पनिक अथवा प्रतीकात्मक आख्यान माना। वाल्मीकीय रामायण को ध्यानपूर्वक पढ़नेवाले लोग यह सरलतापूर्वक समझ सकेंगे कि आदिकवि के मन में रामायण लिखते समय ऐसी कोई कल्पना न थी। ये कल्पनाएं तो ऐतिहासिक घटना में पीछे के सज्जनों द्वारा इस प्रकार जोड़ दी गई हैं जैसे चित्तौड़ की पद्मिनी की कथा के साथ जायसी महोदय ने पद्मावत का रूपक जोड़ दिया है। परन्तु इस जोड़ अथवा इस प्रकार की विचारधारा से, मूल-कथा ही को एकदम काल्पनिक नहीं कहा जा सकता।

कल्पना यद्यपि कल्पना ही है, फिर भी सत्य के व्यापक क्षेत्र में उसका भी स्थान रहा करता और उसका भी अपना उपयोग रहा करता है। कल्पना यद्यपि इतिहास नहीं है, फिर भी कभी-कभी वह इतिहास का रूप धारण कर ले सकती और कर लेती है; यह भी जाननेयोग्य बात है। इसे भलीभांति जान लिये बिना गोस्वामीजी की रामकथा का रहस्य पूरी तरह समझ में न आवेगा।

सत्य इतना व्यापक तत्त्व है कि उसके बिना नास्तिकता का सिद्धान्त भी ठहर नहीं सकता। उस सत्य के कई स्तर अथवा जगत् होते हैं। एक जगत् वस्तु का जगत् है जिसमें देश-काल के अनुसार भूगोल और इतिहास की बातें आती हैं। एक भाव का जगत् है, जिसमें प्रेम, श्रद्धा, करुणा, घृणा, क्रोध, सुख, दुःख, आदि के अनुसार प्रवृत्तियों और निवृत्तियों के उत्थान -पतन हुआ करते तथा तदनुकूल कल्पनाएं मानव के अन्तर्मन अथवा अन्तर्जगत् में अपना कार्य किया करती हैं। एक विचार का जगत् है जिसमें वस्तुओं के सूक्ष्मरूप चिन्तित होते हैं, जिन्हें कभी-कभी स्थूलता प्रदान कर देती हैं हमारे भावजगत् की प्रवृत्तियां। पहिला जगत् इन्द्रियों का है, दूसरा जगत् मन का है, तीसरा जगत् बुद्धि का है। पहिला भूः, दूसरा भुवः और तीसरा स्वः है। पहिला अधिभूत जगत् है, दूसरा अधिदैव जगत् है और तीसरा अध्यात्म जगत् है। इन तीन के अतिरिक्त और भी अनेक जगत् हैं, परन्तु मानव-जीवन का सम्बन्ध इन्हीं तीनों से विशेषतया है। कुछ ने मन को क्रिया और भावना दोनों का स्रोत माना अर्थात् चित्त को उसके साथ नत्थी कर दिया; तथा मन, बुद्धि और चित्त को, (Willing, Knowing और Feeling को), अन्तर्जगत् की वस्तु, एवं शरीरस्थ ज्ञान-क्रिया-तन्तु-जाल आदि को बहिर्जगत् की वस्तु, बता कर, सत्य के स्तरों का कुछ अपने ढंग पर विवेचन कर दिया। परन्तु घूम-फिर कर इस त्रिजगत् की सत्यता को माने बिना काम किसी का चला नहीं।

अधिदैव जगत् प्रधानतः कल्पना का जगत् है। एक कल्पना

वह है जो मनोयोग का बल पाकर वस्तु-जगत् में मूर्त्त रूप भी धारण कर सकती है। एक कल्पना वह है जो केवल कहानियों अथवा उपन्यासों की उड़ान में देखी जाती है। परन्तु इस कल्पना में भी मर्यादा का एक मान-दण्ड रहा करता है जिससे उसकी सत्यता नापी जाती है। इस मर्यादा के कारण ही उसमें एक स्थिरता आती है—एक निश्चितता आती है। हम जानते हैं कि परी केवल कल्पना-जगत् की वस्तु है; किन्तु परी की भी एक मर्यादा बंध चुकी है जिसके अनुसार उसके पंख तो होते हैं परन्तु पूंछ नहीं होती और न सींग ही होते हैं। किसी ने यदि किसी परी की सींग-पूंछ की चर्चा की तो हम उसे असत्य-भाषी ही कहेंगे।

अधिभूत जगत् की बात देखिये। फोटोग्राफ़र यदि मुख के दाग़ का प्रदर्शन अपने फोटोग्राफ़ में न होने देगा तो वह आर्टिस्ट भले ही कहावे, फोटोग्राफ़र की सत्यता से तो विमुख हो ही जायगा। परन्तु आर्टिस्ट की सत्यता इसी में है कि वह कुरूपता को अपने चित्र से एकदम दूर ही रखे। वस्तु-जगत् के भीतर ही इस प्रकार सत्य के दो स्तर हो गये—एक फोटोग्राफ़र का सत्य और एक आर्टिस्ट का सत्य! उद्देश्य-भिन्नता के कारण इन स्तरों की भिन्नता सामने आती है। फोटोग्राफ़र का उद्देश्य है वस्तु-प्रदर्शन, आर्टिस्ट का उद्देश्य है सौंदर्य-प्रदर्शन। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं और दोनों ही के सत्य अपने-अपने क्षेत्र में महान् हैं।

जो केवल इतिहास का प्रेमी है वह अधिभूत-जगत् में ही अपने को सीमित कर देगा। जो प्रवृत्ति का प्रेमी है वह भाव के क्षेत्र में

अधिदैव-जगत् का निर्माण करेगा, अथवा अन्यों द्वारा निर्मित ऐसे जगत् में श्रद्धापूर्वक विचरण करना चाहेगा। जो मूल तत्त्वों के चिन्तन का प्रेमी है वह अध्यात्म-जगत् में ही विशेषरूप से अनुराग मानेगा। पहिले में इन्द्रियानुभव की प्रधानता है, दूसरे में कल्पना-मूलक भावना की और तीसरे में चिन्तन-मूलक विवेक की। विचारक लोग जानते हैं कि इस त्रिजगत् का भी पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतएव ऐसे ज्ञानी लोग अपने-अपने क्षेत्र में इन तीनों लोकों को मानते हुए, तीनों को साथ लेकर चलना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं।

विज्ञान बताता है कि पहिले विचार उठता है, फिर तदनुकूल प्रवृत्ति होती है, फिर वस्तु बनती है। इमारत की आवश्यकता का अनुभव अथवा नक्शा पहिले अन्तःकरण में आया, फिर उसके निर्माण की ओर प्रवृत्ति और प्रयत्न दौड़े, फिर स्थूल भवन बनकर खड़ा हो गया। विश्वनियन्ता के अन्तःकरण में भी विचार आया, प्रवृत्ति बढ़ी और स्थूल जगत् तैयार हो गया। हमारे आज के विचारों पर भी यदि पर्याप्त मनोबलका, (प्रवृत्तिका), प्रयोग किया जाय तो वे साकार होकर स्थूल रूप धारण कर सकते हैं। योगियों ने अनेक वस्तुएं आज दिन भी इसी प्रकार बनाकर दिखा दी हैं। तब तो यही कहना पड़ता है कि स्थूल जगत् (अधिभूत जगत्) की अपेक्षा सूक्ष्म जगत् अधिक सत्य है; भले ही इस सूक्ष्म जगत में अधिदैव जगत् की अपेक्षा अध्यात्म जगत् अधिक सत्य हो।

हम सामान्य आंख से पानी का एक निर्मल विन्दु मात्र देखते

हैं, परन्तु खुर्दबीन के सहारे उसी निश्चेष्ट निर्मल और निर्जीव विन्दु में हम हलचल करते हुए लाखों कीटाणुओं के दर्शन कर सकते हैं। सूर्योदय की सी वस्तु को, जिसे हम एक सत्य घटना समझते है, क्या यथार्थतः ही सत्य घटना कहा जा सकता है ? क्या यथार्थतः ही सूर्य उदित होता हुआ ऊपर बढ़ता है ? वस्तु अथवा घटना में तत्त्व का अंश कितना कम और हमारी कल्पना का अंश कितना अधिक रहता है ; यह तार्किक और दार्शनिक विद्वान् भलीभांति समझ सकते हैं। तब हम कैसे कह दें कि सत्य के क्षेत्र में 'इतिहास' के नाम से हम जिसे ग्रहण कर चुके अथवा ग्रहण करना चाहते हैं, वही एक मात्र सत्य वस्तु है और कल्पना का उसमें न कोई स्थान रहा और न होगा !

इतिहास के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण भी कितना संकीर्ण है। हम अपनी ही संकीर्ण सीमाओं से सभी प्रकार के मानवों और उनके कार्यों को नाप कर इतिहास के तत्त्वों को ढूँढ़ना चाहते हैं। जब विदेशियों ने विमान न बनाये थे, तब हम पुष्पक की बात को अनैतिहासिक और केवल काल्पनिक कह कर तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। अब हम उसे भी इतिहास की वस्तु मानने लगे। जब तक योगियों की अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा आदि की सिद्धियाँ प्रयोगशाला की सर्वसुलभ वस्तुएं नहीं बन जातीं, तब तक हनूमान् का आकाश-मार्ग से गमन और द्रोणाचल-आनयन अधिभूत जगत् की वस्तुएं नहीं कहे जा सकते। परन्तु इसे क्या यह कहा जा सकता है कि हम उन्हें कभी किसी काल में इतिहास की वस्तु अथवा अधिभूत-जगत् की वस्तु ही न

मानेंगे ? हमारे दृष्टिकोण की व्यापकता के साथ हमारे इतिहास का रंग भी बदलता जा सकता है।

कौन कह सकता है कि जो बात आज इतिहास में घटित नहीं हुई, वह कभी भी न होगी। यदि आज हमने वस्तुओं के अनुसार अपने विचार बनाये हैं, तो कल हमारे विचारों के अनुसार वस्तुएं भी तो बन सकती हैं। आजकी हमारी कल्पना कलके वस्तुत्व का रूप धारण कर सकती है। उस समय क्या वह कोरी कल्पना ही कही जायगी ? यह भी दावे के साथ कौन कह सकता है कि प्रलयान्तर में सृष्टि का यही अथवा ऐसा ही क्रम नहीं रहा, जैसा इस समय है। तब क्या कल्प-कल्पान्तर में रामायण अथवा रामकथा की ऐतिहासिकता इस प्रकार की नहीं हो सकती जैसी कि आज हम अपनी कल्पना की दृष्टि से सोच और देख रहे हैं ? फिर अधिभूत और अधिदैव का यह अन्तर किन पुष्ट प्रमाणों के बल पर स्थिर किया जाय ?

जिसे आम के रस से मतलब है, वह उसकी शाखाओं के पत्तों पर ऊहापोह नहीं करता बैठता। वह तो आम के चखने को ही सार वस्तु समझेगा। इसी प्रकार जिसे यह इच्छा है कि रामकथा द्वारा उसके अन्तस्तम की शांति हो, उसे स्वान्तः सुख मिले, उसे लोकोत्तर आनंद प्राप्त हो, वह उसके आधिदैविक सत्य को ही चरम सत्य मानकर आगे बढ़ेगा। उसकी दृष्टि में ब्रह्म का साकार होना, राम का सर्वाधीश्वरत्व दिखाना, इन्द्र-शिव आदि देवताओं का भिन्न अस्तित्व रखना, नारद आदि का त्रैलोक्य-विचरण, राक्षसों का मायाचार, काक और गरुड़ का

विवेकी मानवों का-सा सम्भाषण, इत्यादि-इत्यादि सब कुछ एकदम सत्य हैं। क्योंकि इन सब को सत्य समझने से ही उसके भावयोग में उन्नति होती और उसे अपने अभीष्ट आनन्द की प्राप्ति होती है।

आजकल पाश्चात्य प्रणाली की चिन्तन-पद्धति ने मस्तिष्क को इतना महत्त्व दे दिया है कि हृदय बेचारा दब सा गया है। मस्तिष्क में भी इन्द्रिय-गम्य ज्ञान तक ही विवेक को सीमित-सा कर दिया गया है। इसलिये मामूली मानवी दृष्टिकोण से लिखे गये सन्-संवत्वाले इतिहास को ही हमलोग इतनी प्रधानता देने लग गये हैं। जो मस्तिष्क का नहीं, किन्तु हृदय का उन्नयन करनेवाले इतिहास थे, अर्थात् पुराण आदि, उन्हें भी हम आधिभौतिक दृष्टिकोण से अर्थात् पाश्चात्य ढंग के बुद्धिवादी दृष्टिकोण से, पढ़ने की चेष्टा करने लगे और उनके असली रस से वंचित हो गये। यदि सच्ची विवेक-पद्धति से उनका अध्ययन किया जाय, तो उनके आधिदैविक सत्य का असर अन्तःकरण पर हुए बिना न रहेगा।

गोस्वामी जी के समय में पाश्चात्य प्रणाली की यह चिन्तन-पद्धति न चल पाई थी, अतः उन्हें यह समझने की आवश्यकता ही न जान पड़ी कि शिव का तात्त्विक अस्तित्व क्या है, साकेत लोक की वास्तविक स्थिति कहाँ है, इन्द्र को और उनके लड़के बच्चे जयन्त आदि के अस्तित्व को ही क्यों माना जाय, राक्षस और वानर को असभ्य मनुष्य ही क्यों न कह दिया जाय, आदि आदि। वे तो लोकोत्तर आनंद दान और लोकोत्तर कल्याण दान के लिए अपनी रामकथा लिख रहे थे। अतः वाह्य सत्य

(भूलोक के सत्य) के, समान बल्कि इससे बढ़कर, आन्तर सत्य (भुवर्लोक और स्वर्लोक के सत्य) के तत्त्व उनके मन में आये और इसी दृष्टिकोण से उन्होंने अपनी रामकथा लिख दी। रामकथा का जो पाठ-भेद उन्हें पसंद आया, रामकथा का जो रूप उन्हें अपने उद्देश्य के अनुकूल जान पड़ा, उसे ही अपनी कथा के लिए उन्होंने चुन लिया। शेष को कल्प-भेद की विचित्रताएं बताकर उन्होंने अलग छोड़ दिया है।

सामान्य क्रम से दुनिया में निश्चित ही यह देखा जाता है कि वस्तु के अनुसार विचार बनते तथा विचार के अनुसार कल्पनाएं बढ़ती हैं। वस्तु की अपेक्षा विचार की सत्ता क्षीण और विचार की अपेक्षा कल्पना की सत्ता क्षीण मानी जाती है। रामकथा का लौकिक रूप एक इतिहास की वस्तु था। राम के आदर्शवाद से प्रभावित होकर लोगों ने उनमें ईश्वरत्व का विचार किया और फिर अवतार-कल्पना के सहारे अनेकानेक लीलाएं उनके साथ जोड़ दीं। यह तो सामान्य क्रम हुआ। परन्तु चिन्तन का एक क्रम और भी है, जो बताता है कि नाम और रूप का यह समस्त विस्तार ब्रह्म की चैतन्य सत्ता का ही एक चमत्कार है। जो वस्तुएं दिखाई पड़ीं, दिखाई पड़ रही हैं, अथवा दिखाई पड़ेंगी, वे पहिले विचार और कल्पना रूप से उसके मन में आइं, फिर कहीं उन्हें वस्तुत्व मिला, मिल रहा है, अथवा आगे मिलेगा। मानव-हृदय की कल्पनाओं का सृजक भी वही परमात्मा है और वही उन कल्पनाओं को मानव-हृदय की श्रद्धा-विश्वास-मूलक तन्मयता, (जिसे मनोबल भी कह सकते हैं), के योग से सजीव साकारता

भी प्रदान कर देता है। इस तरह आध्यात्म-लोक के राम ही अधिभूत लोक के राम के रूप में अवतीर्ण हो जाते हैं और उन्हीं की प्रेरणा से अधिदैव लोक के राम की कल्पना सजीव साकार होकर हमें दिव्य-लोक की लीलाओं का आनन्द देने लगती है। अधिभूत लोक के राम भले ही किसी सीमित देश-काल में (अयोध्या या त्रेता में) रहे हों, परन्तु अधिदैव लोक के राम, भक्तों की मनोवांछा पूरी करने के लिए, सदा-सर्वदा और सब कहीं विराजमान हैं। चिन्तन के इस दूसरे क्रम के पीछे भी बहुत बड़ा वैज्ञानिक तथ्य छिपा हुआ है; और प्रमाण तो इसी बात के अधिकाधिक मिलते जा रहे हैं कि यह दूसरा क्रम ही सत्यानुसंधान का वास्तविक क्रम है।

वह जो हो, इतना तो निश्चित है कि रामकथा पर पहिले क्रम से विचार करके हम केवल इतिहास-ज्ञान-विषयक अपना कुछ कौतूहल ही शान्त कर लेंगे, परन्तु हमारे हृदय की शान्ति अथवा जीवन की प्रगति में कोई ख़ास लाभ न होगा। यदि हमें "कलि कलुष विभंजन", "स्वान्तस्तमः शान्ति", "भव-सरिता-सन्तरण", "प्रेमानन्द के अनुपम माधुर्य" आदि की इच्छा है, तो हमें निश्चय ही उपर्युक्त दूसरे क्रम से रामकथा पर विचार करना पड़ेगा। हमें तो ऐसे राम की ज़रूरत है जो सोते-जागते हमारे साथ हों; जो अजेय कवच की तरह हमारे जीवन से सम्बद्ध होकर हम में स्फूर्त्ति, उत्साह, प्रेरणा, उमंग, आशावादिता, शान्ति, आनन्द, आरोग्य, आस्तिक्य, कल्याण-कर्तृत्व, लोक-सेवकत्व, अहिंसात्मकत्व, सत्यात्मकत्व, आदि-आदि, भरते रहें, जो हमारी पुकार पर हमारे पास प्रकट हो सकें; जो

स्वतः अखिल ब्रह्माण्ड-नायक होते हुए भी दीन-हीन अकिंचनों के भी परम शरण्य तथा परम वन्धु हों। ऐसे राम के प्रति जो कथा श्रद्धा विश्वासपूर्ण तन्मयता उत्पन्न कर दे, वही तो वास्तविक रामकथा है। शेषको ऐतिहासिकों के मस्तिष्क का कौतूहलमात्र समझना चाहिए।

कल्पना के तत्त्व का यह विवेचन कुछ लम्बा भले ही हो गया हो, परन्तु अपने प्रकृत विषय को भली-भांति समझने के लिये हमारी दृष्टि से था यह आवश्यक। इस पर भली-भांति ध्यान रख कर ही रामकथा के ऐतिहासिक अङ्ग का रस लिया जाय, यही हमारा विनम्र निवेदन है और यही गोस्वामीजी का भी नम्र निवेदन था। 'करिय न संका अस जिय जानी, सुनिय कथा सादर रति सानी।'

मूलकथा की ऐतिहासिक घटना पर कल्पना के जो रंग चढ़े हैं, उन्होंने राम के प्रति श्रद्धा-विश्वास की तन्मयता बढ़ाने ही में सहायता की है। अनधिकारियों द्वारा कुछ ऐसे आख्यान भी कल्पित हो गये हैं, जो राम की आदर्श जीवनी अथवा आराध्यता के प्रतिकूल बैठते हैं अर्थात् जो श्रद्धा-विघ्न तक सिद्ध हो रहे हैं। उनकी चर्चा करना हमारा अभीष्ट नहीं है। जिन कल्पनाओं से वास्तविक लाभ हो सकता है, उनकी सृष्टि के लिए भावुक लोग अब भी अधिकारियों का मुख ताका करते हैं। ऐसी कल्पनाएं ही रामकथा के चिरन्तन आनन्द में आकर्षक नूतनता प्रदान करती रहतीं और उसे सार्वकालिक वस्तु बनाने में सहायक हुआ करती हैं। रामकथा वस्तुतः राम की पूरी जीवनी से सम्बन्धित नहीं।

तो उस जीवनी की एक-दो प्रधान घटनाओं ही को लेकर कही गई है। उन घटनाओं से सम्बन्धित ऐसी कल्पनाओं की कुछ बानगी प्रस्तुत करना इस स्थल पर अनुचित न होगा।

रामकथा वस्तुतः केन्द्रित हो रही है सीता के चरित्र पर। अध्यात्म रामायणकार ने कदाचित् इसीलिए इसे "सीतायाश्चरितं महत्" कहकर, लिखा कि राम तो वास्तव में निर्गुण और निष्क्रिय हैं, उनकी जो लीला हुई, वह महामाया सीता जी की चमत्कृति है। कथा के पूर्व में है सीतास्वयंवर, मध्य में है सीताहरण और अन्त में है सीता-परित्याग। परित्याग का यह प्रकरण गोस्वामी जी ने रामचरितमानस में नहीं ग्रहण किया। वाल्मीकि के अध्ययनशील विद्यार्थियों का कथन है कि न केवल सीता-परित्याग, किन्तु सीता-स्वयंवर भी क्षेपक ही है। मूलकथा है केवल सीताहरण ही। उसको लेकर संस्कृति और सभ्यता के संघर्ष की कथा बड़े मजे में समझाई जा सकती है। जैसा कि हमने अपने "भारतीय संस्कृति" नामक ग्रन्थ में लिखा है, धन अथवा समृद्धि या लक्ष्मी का प्रकृत अर्थ है कल्याणप्रद, माधुर्य और विकृत अर्थ है आतंकप्रद ऐश्वर्य। प्रकृति के साहचर्य के साथ जो समृद्धि प्राप्त होती है वह कल्याण-प्रद माधुर्यवाली है और प्रकृति का शोषण करके जो समृद्धि प्राप्त होती है, वह आतंकप्रद ऐश्वर्यवाली है। अंग्रेज़ी का 'कल्चर' शब्द कृषि, ग्राम, प्रकृति-साहचर्य, कल्याणप्रद माधुर्य आदि से सम्बन्धित है और 'सिविलिजेशन' शब्द नगर, नागरपन (चतुराई), प्रकृति पर विजय और उसका शोषण (एक्सप्लाइटेशन) आदि-आदि से संबंधित होकर आतंकप्रद ऐश्वर्य के अर्थ में व्यवहृत होने

लगा है। राम का अर्थ है रमणीय और रावण का अर्थ है डरावना। समृद्धि-सीता का प्रकृति अर्थ ही राम (रमणीय) है और विकृत अर्थ ही रावण (डरावना) है। समृद्धि तो अपने प्रकृत अर्थ ही की अनुगामिनी होगी, भले ही कुछ दिनों के लिए विकृत अर्थ उसका अपहरण कर ले जाय (अपने दायरे में हर ले जाय)। रावण की शोषण-नीति, उसकी समृद्धि-लोलुपता (लंका को सोने से भर देना), आदि आदि, प्रसिद्ध हैं ही, और राम की कल्याणप्रद माधुरी भी प्रसिद्ध ही है। 'सीता' का शब्दार्थ स्वतः ही कृषि अथवा कृष्टि (कल्चर या संस्कृति) होता है। अतः सीताहरण की कथा (और उसके परिणामस्वरूप होनेवाला राम-रावण-युद्ध) हमारी कल्पना को संस्कृति और सभ्यता के संघर्ष का एक बड़ा सुन्दर चित्र दे देती है जिसका आकर्षण आज दिन के लिए भी नवीन ही हो जाता है।

दूसरी दृष्टि से देखिये तो राम-कथा केन्द्रित हो रही है दो मुनियों के संकेतों पर। प्रथम मुनि हैं विश्वामित्र, जो राम को लिवा ले गये। उनके हाथों राक्षसों का वध और यज्ञ की रक्षा करा कर उन्होंने ब्राह्मणों और क्षत्रियों में सौहार्द उत्पन्न कराया। परिणाम स्वरूप उन क्षत्रिय-कुमार के संकेत पर गोतम मुनि (ब्राह्मण) ने अपनी परित्यक्त पत्नी को भी अङ्गीकार कर लिया। ये विश्वामित्र आगे बढ़े और धनुषयज्ञ में उपस्थित होकर तथा राम द्वारा धनुभंग कराकर इन्होंने भारत के दो प्रबल क्षत्रिय-कुलों में सम्बन्ध स्थापित कराया। सीता-विवाह के परिणाम स्वरूप ही राम के यौवराज्य-उद्घोषण की बात सामने आई और उसी के

परिणाम स्वरूप बनवास का प्रकरण आया और फिर चित्रकूट में भरत-मिलाप हुआ। विश्वामित्र आगमन से लेकर चित्रकूट की भरत-भेंट तक घटनाचक्र तीव्र गति से बढ़ता चला गया है। इस घटनाचक्र के सूत्रधार, एक प्रकार से, विश्वामित्र मुनीश्वर ही तो हैं! लौकिक अभ्युदय के सम्बन्ध की उनकी शक्ति विश्वविश्रुत है। स्वतः नरेश थे, परन्तु ऋषि-वृत्ति के लिये उन्होंने राज्य का त्याग किया। अभ्युदय विषयक अपनी शक्ति उन्होंने इतनी बढ़ाई कि जगत्कर्त्ता से होड़ करके नई सृष्टि ही रच दी, परन्तु राजर्षि का प्रभावमय पद भी उन्होंने ब्रह्मर्षि-पद के चरणों पर चढ़ा दिया। बला अतिबला की विद्याएं, कीर्ति, सीता और फिर यौवराज्य का वैभव यह सब उन्हीं के प्रयत्नों से राम को मिला। परन्तु उनके अभ्युदय का ऐसा चमत्कार है, जिसकी परिणति हुई है अनासक्ति में, त्यागभावना युक्त भोग में, "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः"—वाले सिद्धान्त में।

दूसरे मुनि हैं अगस्त्यजी जिनके पास राम स्वतः "मुनि-द्रोही मारण मंत्र" की दीक्षा लेने—अपने कर्त्तव्य-कर्म की दीक्षा लेने—पहुंचे थे। उत्तर के महापुरुष थे विश्वामित्र और दक्षिण के महापुरुष थे अगस्त्यजी। इन्होंने पंचवटी का निवास बताकर दूसरे घटनाचक्र को तीव्रता से संचालित कर दिया। वह राक्षसों की बिहार-भूमि थी ही। सूर्पणखा आई, खर दूषण-वध हुआ, सीता हरण हुआ, सुग्रीव-मित्रता हुई, बालिवध हुआ, सीतानुसंधान हुआ, विभीषण-मैत्री हुई, सेतुबन्ध हुआ, रावण-वध हुआ, सीता-उद्धार हुआ और राम का प्रत्यावर्त्तन और उनका अभिषेक हुआ।

अगस्त्य मुनि का जीवन ही निःश्रेयस् का जीवन है। परम कर्मशील होते हुए भी वे परम ज्ञानी हैं। जो कुछ कार्य हुआ वह विश्व के कल्याणार्थ; अपने लौकिक स्व के लिये कुछ नहीं। राम ने भी इस उत्तरार्ध के घटनाचक्र में जो किया वह कर्त्तव्य की प्रेरणा से। इस चरित की परिणति है "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः" वाले सिद्धान्त में। वही सच्चा निःश्रेयस् है, जिसमें आसक्तिहीन कर्म का पूरा क्षेत्र निर्बाध उन्मुक्त हो।

इस दृष्टि से रामकथा, अभ्युदय-निःश्रेयस् का रहस्य बताने वाली धर्मकथा हो जाती है। "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः"। यही तो धर्म की मान्य परिभाषा कही गई है।

तीसरी दृष्टि से देखिये तो रामकथा केन्द्रित हो रही है तीन नारियों के कृत्यों पर। वे तीन नारियां है ताड़का, मन्थरा और सूर्पणखा। ताड़का के कारण विश्वामित्र-आगमन से लेकर सीता-विवाह तक की घटना घटी, मंथरा के कारण रामवनगमन की घटना घटी और सूर्पणखा के कारण सीताहरण और रावणवध की घटनाएं घटीं। ताड़का है क्रोध-वासना, मन्थरा है लोभ-वासना, और सूर्पणखा है काम-वासना। तीनों के चरित्र देख लीजिए तो ये वासनाएं स्पष्ट हो जायंगी। ताड़का के मुनिद्वेष ने ही बालकाण्ड के चरित्र रचवाये। वह क्रोध की प्रतिमूर्ति नहीं तो क्या थी ? मन्थरा की चाल निज परत्व के ममत्व पर ही तो आधारित थी ? मेरी मालकिन का लड़का राजा क्यों न हो ? राजा का ऐश्वर्य-सुख मेरी मालकिन और उसके वंशज क्यों न भोगें। ऐसा सोच कर इसी तरह का कार्य कर उठाने

वाली दासी लोभ-वासना की प्रतिमूर्ति नहीं तो और क्या है ? सूर्पणखा के प्रस्ताव और उस समय के उसके क्रिया-कलाप ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि वह मूर्तिमती काम-वासना थी। काम, क्रोध और लोभ—ये ही तीन तो नरक के द्वार हैं, आत्महन्ता हैं, संसार-चक्र के संचालक हैं, जीवन की उथल-पुथल के ज़िम्मेदार हैं। गीता ने ठीक ही कहा है "त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः कामः क्रोधः तथा लोभः तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।" राम-कथा के घटनाचक्र के ज़िम्मेदार भी ये ही तीन हैं। क्रोध मारा गया, लोभ लतियाया गया और काम नकटा-बूचा किया गया। कल्पना कहती है कि साधक रामकथा से ऐसा भी सबक़ सीखे।

रामकथा के सम्बन्ध में कल्पना की एक उड़ान स्वतः गोस्वामी जी की दृष्टि से भी देख लीजिए। विनयपत्रिका में वे कहते हैं :—

बपुष ब्रह्माण्ड, सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग,
रचितमन दनुज मय रूप धारी
विविध कोसौध अति रुचिर मंदिरनिकर
सत्वगुन प्रमुख त्रै कटक कारी ॥

कुनप अभिमान, सागर भयंकर घोर,
विपुल अवगाह दुस्तर अपारं,
नक्ररागादि संकुल, मनोरथ सकल,
संग संकल्प वीची—विकारं ॥

मोह दसमौलि, तदभ्रात अहंकार,
पाकारिजित काम विस्राम हारी
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर,
दुष्ट क्रोध पापिष्ट विबुधान्तकारी ॥

द्वेष दुर्मुख, दंभ खर, अकंपन कपट,
दर्प मनुजाद, मद सूल पानी
अमित बल परम दुर्जय निसाचर निकर
सहित षड्वर्ग गो जातु धानी ॥

जीव भवदंघ्रि सेवक विभीषण विकल,
वसत दुष्टाटवी ग्रसित चिन्ता
नियम यम सकल सुरलोक लोकेस
लंकेस-बस नाथ ! अत्यन्त भीता ॥

ग्यान अवधेस गृह, गेहिनी भक्ति सुभ,
तत्र-अवतार भूभार हरता
भक्त संकष्ट अवलोकि, पितु वाक्य
कृत गमन किय गहन वैदेहि भरता ॥

कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट,
विपुल ग्यान सुग्रीव कृत जलधिसेतू
प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजन-तनय,
विषम वन भवनमिव धूमकेतू ॥

दुष्ट दनुजेस निर्वंस कृत दासहित,
विस्व दुख हरन बोधैक रासी
अनुज निज जानकी सहित हरि सर्वदा,
दास तुलसी हृदय कमल वासी ॥

कितने लम्बे रूपक की कल्पना की है उन्होंने ! मोह ही दशमुख रावण है इस बात का गोस्वामीजी ने अनेक स्थलों पर संकेत किया है—विनयपत्रिका आदि में ही नहीं, किन्तु रामचरित मानस में भी । यों भी देखिये तो आसानी से समझा जा सकता है कि विवेक और मोह का संघर्ष ही राम-रावण-युद्ध है जो प्रत्येक

व्यक्ति के जीवन में देखा जा सकता है। शान्ति अथवा भूसम्पत्ति भी (जिसका प्रतीकात्मक शब्द समझिये "सीता") मोह द्वारा भले ही कुछ काल के लिए अपहृत हो जाये, परन्तु रहेगी वह विवेक ही की होकर। कृष्णचरित्र का रुक्मिणी-हरण और रामचरित का सीता-हरण तथा रावण-वध इस सत्य को बड़ी कलात्मकता के साथ व्यक्त कर रहे हैं। स्थूल रूप से यही समझिये कि व्यक्ति अथवा समाज का देवत्त्व ही उसका रामत्व है और दानवत्व ही उसका रावणत्व है और इन दोनों का संघर्ष ही वह तत्त्व है जो राम-रावण-युद्ध वाली रामकथा उत्तम कलात्मक रूप से हमें दे रही है।

परन्तु कल्पना और कला के इस पक्ष का यह अर्थ नहीं कि कथा के ऐतिहासिक पक्ष का—इतिवृत्तात्मक पक्ष का—महत्त्व एकदम कम कर दिया जाय। अपने उस पक्ष में भी वह निःसन्देह महामहिम है। रामकथा के इतिवृत्तात्मक पक्ष का घटना-प्रवाह देखिये। कितना रोचक है वह! जो कल राजा होने वाला था, वह आज जङ्गल भेज दिया जाता है, "तापस वेस विसेस उदासी" बनाकर, और वह भी चौदह लम्बे वर्षों के लिए! जिन सुकुमारी सीताजी ने पाँवड़ों पर ही चलना सीखा था, वे वन की कर्कश भूमि को ही अपनी निवास-स्थली बनाने के लिए स्वेच्छा से तैयार हो जाती हैं। इधर, केकैयी के मनसूबों पर एकदम हरताल पोतकर भरत जी भी राज्य त्याग देते हैं। फिर भी अयोध्या की राज्य-व्यवस्था के लिये राम की पादुकाएँ राज-प्रतीक बन जाती हैं और शासन सुचारु रूप से चलने लगता है। उधर वनचारी राम पर फिर

विपत्ति आती और सीताजी का हरण होता है। उस सिलसिले में एक से एक अनोखी घटनाओं का प्रवाह-पूर सा बह निकलता है। काञ्चन मृग का छल, जरठ गृद्ध जटायु की पर दुःख कातरता; भालुओं, बानरों की नर-लोकनायक-सेवा, समुद्र पर पुल का निर्माण, पदचारी वानर भालू लेकर ही महामहिम चक्रवर्ती लोक-विद्रावण रावण के साथ एकाकी राम लक्ष्मण का संघर्ष, विदेश में लक्ष्मण की भी मृतप्राय अवस्था और हनूमान का अप्रतिम साहाय्य, रावणवध, सीता की अग्नि-परीक्षा, आदि आदि घटनाएँ रोचकता में एकदम बेजोड़ हैं। इन तथा इनसे सम्बन्धित अन्य घटनाओं में रोचकता ही नहीं, उपदेश-प्रदता भी अतुलमात्रा में भरी हुई है।

रामकथा के इतिवृत्तात्मक पक्ष ने आदर्श-सृजन भी कमाल का किया है। स्वतः राम आकृति, प्रकृति और परिस्थिति तीनों दृष्टियों से परम आदर्श थे। (देखिये हमारा "तुलसी दर्शन"—'तुलसी के राम')। राम की आकृति इतनी आकर्षक थी कि उसने नर और पशु, शिष्ट और दुष्ट, सभी पर अपनी मोहिनी डाली थी। गोस्वामीजी ने रूप-सौंदर्य के उनके मौन प्रभाव का चित्र बड़ी कुशलता और बड़ी सफलता के साथ खींचा है। राम की प्रकृति में ऐश्वर्य और माधुर्य अथवा शक्ति और शील दोनों ही पराकाष्ठा को पहुंच गये थे। ताड़का सुबाहु वध, खर दूषण वध, रावण-कुम्भकर्णादि वध, यही नहीं, धनुष भंग, बालि वध, पृथ्वी को निश्चरहीन करने का प्रण, परशुराम गर्वापहरण आदि आदि कार्य उनकी परम शक्ति के द्योतक हैं ही। शौर्य, तेजस्विता, ईश्वरभाव, शरण्यता आदि आदि भी उनकी प्रकृति के इस पहलू

को खूबी के साथ प्रकट कर रहे हैं। फिर, असभ्य वानरों से उनकी मित्रता, पतित अहिल्या तथा अनार्य शबरी आदि का उद्धार, सामान्य जीवों के प्रति भी उनकी नम्रता और परम कृतज्ञता, राज्यवैभव के प्रति भी उनकी अनासक्ति, उनकी वत्सलता, उनका कारुण्य, उनका सहज स्नेह, उनका शिष्ट तथा मिष्ठ व्यवहार आदि आदि की घटनाएँ, उनकी प्रकृति के माधुर्य अथवा शीलवाले पहलू को पूरी खूबी के साथ प्रकट कर रही हैं। वे सूर्यकुल के महा-महिम सम्राट दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र थे, वशिष्ठ और विश्वामित्र के समान अद्वितीय महर्षियों से शास्त्र और शस्त्र की शिक्षा प्राप्त कर चुके थे लक्ष्मण और भरत के समान बन्धुओं के अग्रज थे, और सीता के समान जगत्वंद्य सुन्दरी-साध्वी पत्नी उन्हें मिली थीं तथा हनूमान् के समान शक्तिशाली स्वेच्छासेवक उन्हें प्राप्त थे। परिस्थिति का आदर्श इससे बढ़कर और क्या होगा ?

"वे ऐसे आदर्श पुत्र हैं, जिन्होंने माता और विमाता में कभी कोई भेद नहीं माना और पिता के वचनों की रक्षा के लिए सहर्ष १४ वर्षों का वनवास स्वीकार कर लिया। वे ऐसे आदर्श बन्धु हैं जिन्होंने भरत के लिए सर्वस्व त्याग पर ही रुचि दिखलाई थी और लक्ष्मण की संकटापन्न अवस्था पर अपना सहज धैर्य तक भूल गये थे। वे ऐसे आदर्शपति हैं, जिन्होंने सीता के लिए रावण के समान प्रबल पराक्रमी शत्रु से एकाकी लोहा लिया और एक पत्नीव्रत का आजन्म निर्वाह करते हुए सीता की सुवर्ण-प्रतिमा से यज्ञ का काम चलाया परन्तु वशिष्ठ आदि महर्षियों की सम्मति पाकर भी दूसरा विवाह न किया। वे ऐसे आदर्श मित्र हैं

जिन्होंने सुग्रीव और विभीषण के समान विपद्ग्रस्त व्यक्तियों को सहर्ष अपनाया और अपनी विपन्न अवस्था की भी चिन्ता न करते हुए उन्हें परम ऐश्वर्य-सम्पन्न किया। वे ऐसे आदर्श पिता हैं जिन्होंने न केवल अपने पुत्रों को वरन् अपने भतीजों को भी समान समझा और सब पर समान दृष्टि से स्नेह करते हुए सबके लिए समान रूप से अलग अलग राज्य प्रबन्ध कर दिया। वे ऐसे आदर्श राजा हैं जिनका राज्य संसार में सर्वदा के लिए एक सुन्दर दृष्टान्त बन गया है।" वही राज्य था जिसमें एक अल्प-मृत्यु के लिए प्रजा उनसे कैफ़ियत लेने का हक़ रखती थी और उन्हें उसका कारण ढूँढ़ कर व्यवस्था करनी पड़ती थी कि किसी प्रकार की उच्छृङ्खलता किसी भी क्षेत्र में कभी होने ही न पावे।

राम ही नहीं, उस रामकथा में अनेक ऐसे आदर्श हैं जो आकर्षण के केन्द्र बने हुए हैं। आदर्शमाता कौशल्या को देखिये, आदर्श भाई भरत और लक्ष्मण को देखिये, आदर्श पत्नी सीताजी को देखिये, आदर्श सेवक हनूमान को देखिये। सब अपनी अपनी छटा में निराले हैं।

व्यक्ति के उन्नयन में यह कथा आदर्श है, कुटुम्ब के उन्नयन में यह कथा आदर्श है, समाज के उन्नयन में यह कथा आदर्श है और शासन के उन्नयन में भी यह कथा आदर्श है। जिस दृष्टि से देखिये उसी दृष्टि से यह कथा परम महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए तो कवि को कहना पड़ा कि राम के बिना काव्य अधूरा, पुराण अधूरा, इतिहास अधूरा, संहिता अधूरी।

न तद्धि काव्यं नहि यत्र रामः
न यत्र रामः नहि तत् पुराणं।
न चेतिहासः नहि यत्र रामः
न यत्र रामः नहि संहिता सा॥

रामकथा की परम लोक-रञ्जकता के कारण उसकी घटनाओं के काल विभाग (दिन, तिथि आदि) बताने का भी एक क्रम चल पड़ा है। संस्कृत में इस दिशा में अग्निवेश रामायण आदि प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में बाबू रामदास गौड़ ने एक "श्री रामचरित पुष्पाञ्जलि" प्रकाशित की है जिन्हें वे गोस्वामी तुलसीदास रचित मानते हैं। इसके अनुसार मोटी-मोटी घटनाओं का कालक्रम इस प्रकार है :—

रामचरित तिथिसार

चैत्र शुक्ल नवमी—रामजन्म
आश्विन बदी छठ—विश्वामित्र का रामलक्ष्मण को ले जाना।
,, सुदी तीज—यज्ञ आरम्भ।
,, ,, दशमी—अहिल्या उद्धार।
,, ,, पूर्णिमा—धनुभंग।
कार्तिक बदी चौथ—अवध से बारात प्रस्थान।
,, ,, तेरस—बारात का जनकपुर पहुंचना।
अगहन सुदी नवमी—राम-व्याह।
,, ,, चौदश—बरात की वापिसी।
पूस बदी अष्टमी—बरात का अयोध्या पहुंचना।

[यहां एक पक्ष है कि राम का वनगमन एक महीने बाद ही हो गया और दूसरा पक्ष है कि वह बारह वर्षों बाद हुआ।]

माघ बदी नवमी—वन गमन।
चैत्र बदी दशमी—शृङ्गवेरपुर पहुंचना।
„ सुदी चतुर्दशी—चित्रकूट पहुंचना।
बैसाख बदी पंचमी—सुमंत की वापिसी, दशरथ की मृत्यु।
„ „ द्वादशी—भरत का अयोध्या आगमन।
„ „ त्रयोदशी—दशरथ शव दाह।
„ „ एकादशी—भरत का राम मिलन को प्रस्थान।
„ „ द्वादशी—उनका शृङ्गवेरपुर पहुंचना।
„ „ पूर्णिमा—उनका चित्रकूट पहुंचना।
जेठ बदी चौदस—भरत की वापिसी।

[यहां कहा गया है कि रघुनाथ एक वर्ष चित्रकूट में रहकर आगे बढ़े।]

चैत्र सुदी पंचमी—अत्रि मुनि से मिलकर प्रस्थान।
„ „ द्वादशी—अगस्त्यमुनि से भेंट।
„ „ पूर्णिमा—पञ्चवटी में कुटी निर्माण।

[यहाँ कहा गया है कि रामने बारह वर्ष पञ्चवटी में निवास किया।]

बैशाख सुदी तेरस—सूर्पणखा विरूपीकरण।
जेठ बदी तीज—खरदूषण वध।
„ „ अष्टमी—सीताहरण।
„ „ एकादशी—शवरी भेंट।

जेठ बदी अमावस्या—पंपापुर आगमन।
आसाढ़ बदी दशमी—ऋष्यमूक आगमन।
,, ,, एकादशी—बालि वध।
,, सुदी अष्टमी—सुग्रीव को राजतिलक।

[सावन लगते ही राम प्रवर्षण गिरि पर आए और चौमासा वहीं व्यतीत किया]

अगहन बदी दशमी—सीता की खोज में वानरों का प्रस्थान।
पूस ,, ,, —हनूमान द्वारा समुद्र लांघना।
,, ,, एकादशी—अक्षयकुमार वध, लंकादहन, वापिसी।
,, सुदी सप्तमी—राम को समाचार ज्ञात होना।
,, ,, अष्टमी—वानर सेना का प्रस्थान।
,, ,, दशमी—समुद्र-तट पर पहुंचना।
,, ,, एकादशी—विभीषण शरणागति।
(तीन दिनों में सेतु निर्माण)
माघ बदी प्रतिपदा—रामेश्वर स्थापना।
,, ,, द्वितीया—सैन्य का समुद्र पार करना।
,, ,, दशमी—सुबेल शैल पर आगमन।
,, सुदी प्रतिपदा—अङ्गद का दूतत्व।
,, ,, द्वितीया—संग्राम आरम्भ।
फागुन बदी नवमी—कुम्भकर्ण वध।
,, सुदी पंचमी—लक्ष्मण मूर्च्छा, संजीवनी प्राप्ति।
फागुन सुदी एकादशी—मेघनाद वध।
चैत्र सुदी एकादशी—रावण वध।

चैत्र सुदी द्वादशी—विभीषण को राज्य देना।
" " तेरस—मृत वानरों को जीवनदान।
" " पूर्णिमा—अयोध्यामें राम तथा भरतका पुनःमिलन
बैशाख प्रतिपदा—राम का राजगद्दी पर बैठना।

यह 'तिथिसार' स्वतः बहुत शुद्ध नहीं जान पड़ता और न गोस्वामी जी का रचित ही कहा जा सकता है क्योंकि अपने एक मात्र प्रबंध काव्य रामचरितमानस में उन्होंने इस तिथि सार के अनुसार रामचरित दिया ही नहीं है। इस तिथिसार के अनुसार राम ने कुंवार सुदी तेरस को तो पुष्पवाटिका में सीता जी के दर्शन किये थे और चौदस को जनकपुरी का भ्रमण किया था। परन्तु मानस में बताया गया है कि पहिले दिन उन्होंने नगर भ्रमण किया और दूसरे दिन प्रातःकाल फुलवारी में सीताजी के दर्शन किये। यही क्रम ठीक जान पड़ता है अन्यथा सीता की सखियों को राम विषयक परिचय देने का अवसर अस्वाभाविक हो जाता। फिर तिथिसार में लंका का युद्ध सत्तर दिनों तक (माघ सुदी-द्वितीया से चैत्र सुदी एकादशी तक) चला बताया जाता है। परन्तु मानस के क्रम में सात दिनों का ही उल्लेख है। इन सत्तर दिनों के क्रम में भी कई बातें ऐसी हैं जो मानस के क्रम से भिन्न हैं। न नागपाश का बन्धन कुम्भकर्ण वध के पहिले हुआ था और न कुम्भकर्ण का वध ही लक्ष्मण मूर्च्छा के पहिले हुआ था। इस परिस्थिति में हम कैसे मान लें कि राम का निवास पंचवटी में बारह साल तक हुआ न कि चित्रकूट में। शान्त निरापद निवास तो चित्रकूट का ही रह सकता था न कि पंचवटी का, जहाँ कि

राम मुनियों के अस्थि समूह देखने और "मुनिद्रोही मारण मंत्र" पाने के बाद गये थे।

वह जो हो, परन्तु इस तिथिसार को भी देखने से यही जान पड़ता है कि राम चरित्र की केवल दो घटनाओं को ही लेकर मानस सम्बन्धी कथानक की रचना हुई है। एक घटना है सीता-विवाह की जिसका उपक्रम होता है कुंवार बदी छठ (विश्वामित्र आगमन) से और उपसंहार होता है जेठ बदी चौदस (भरत की चित्रकूट से वापिसी) पर। आठ महीनों तक इस घटना का क्रम चला। विवाह और वनगमन के बीच एक महीने का ही अन्तर मानकर यह गणना की गई है। यही क्रम स्वाभाविक भी जान पड़ता है क्योंकि विवाह के परिणाम स्वरूप ही सबके मन में अभिलाषा जागी थी कि "आपु अछत युवराजपद रामहिं देहिं नरेसु।" अतः यौवराज्य का आयोजन और फलस्वरूप वनगमन, इसी विवाह की घटना के आवश्यक अङ्ग से बन जाते हैं।

दूसरी घटना है सीताहरण की, जिसका उपक्रम होता है चैत्र सुदी पंचमी से (चित्रकूट से हटने पर) और उपसंहार होता है आगामी चैत्र सुदी एकादशी को (रावण वध पर अथवा चैत्र सुदी पूर्णिमा को (अयोध्या प्रत्यागमन पर)। बारह महीनों तक इस घटना का क्रम चला। पञ्चवटी में बारह वर्षों का निवास माना जा रहा हो तो इस घटना का क्रम बसाख सुदी तेरस से (सूर्पणखा विरूपीकरण से) मान लिया जावे।

विवाह और वनगमन के बीच बारह वर्षों का अन्तर यदि माना ही जा रहा हो, तो घटना क्रमों की संख्या तीन हो जाती है।

पहिली घटना हो जाती है सीता विवाह की जो पूस बदी अष्टमी तक चलती है (बारात की वापिसी तक रहती है)। दूसरी घटना हो जाती है सीता वनगमन की जो माघ बदी नवमी (रामवनगमन तिथि) से प्रारंभ होकर जेठ बदी चौदस (भरत की वापिसी की तिथि) तक चलती है। तीसरी घटना हो जाती है सीता हरण की। इन्हीं तीनों घटनाओं को अन्यदृष्टि से ताड़का, मन्थरा और सूर्पणखा के कुचक्र की घटनाएं कहा जा सकता है। दो घटनायें मानी जाँय तो विश्वामित्र और अगस्त्य की प्रेरणाओं से उन्हें सम्बन्धित किया जा सकता है। और, एक ही घटना मानी जाय तो वह "सीतायाश्चरितं महत्" तो है ही। यह सब हम पहिले ही कह आये हैं।

इन तीनों घटनाओं से, राम का अयन (पर्यटन) तो केन्द्रीय तत्त्व की भांति सम्बन्धित है ही। अतएव रामकथा लिखने वालों ने अपने अपने ग्रन्थों का नाम रामायण ठीक ही लिखा है। गोस्वामी जी ने अलबत्ता भरत-मिलाप और राम-राज्य के चित्रों को इतने सुन्दर रंगों से सजा दिया है और राम के आध्यात्मिक तथा आधिदैविक रूप पर इतना बल दे दिया है कि उनकी राम-कथा केवल राम+अयन न रह कर रामचरित कहलाने की अधिक अधिकारिणी हो गई है। 'रामचरित' के साथ उन्होंने 'मानस' शब्द और जोड़ दिया है जो उनके प्रबंध-काव्य के शिवत्व और रसार्द्रत्व का बहुत सुन्दर ढंग से संकेत करने वाला हो गया है।

द्वितीय परिच्छेद

गोस्वामीजी की मानसिक पृष्ठभूमि

गोस्वामीजी ने रामनाम का महामन्त्र अपने गुरुमुख से पाया था। उस समय वे बालक ही थे। उसी समय उन्होंने रामकथा भी सुनी थी।

"मैं पुनि निज गुरुसन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउं अचेत॥"

बच्चों को कथाएं ही तो भाया करती हैं। उसमें समझ का प्रश्न क्या? नानी की कहानियों में समझ का प्रसङ्ग ही कितना! परन्तु गोस्वामीजी आगे ही कहते हैं :—

"श्रोता बकता ज्ञान निधि, कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझउं मैं जीव जड़, कलिमल ग्रसित विमूढ़॥"

आध्यात्मिक स्तर के शङ्कर-पार्वती, आधिदैविक स्तर के भुशुण्डि-गरुड़, आधिभौतिक स्तर के याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, सभी ज्ञान के भण्डार थे और उन्होंने जो सम्मिलित तत्व दिया वह स्वतः बहुत गूढ़ था। उसको कलिमल ग्रसित मूढ़ जीव कैसे समझ सकता है ?

इस दोहे से स्पष्ट हो जाता है कि रामकथा को वे किस दृष्टि-कोण से समझना चाहते थे। रामकथा का ऐसा रूप वे हृदयङ्गम करना चाहते थे जो तीनों प्रकार के सत्यों (आध्यात्मिक, आधि-दैविक और आधिभौतिक सत्यों) की दृष्टि से पूर्ण हो और जिसमें इतनी शक्ति हो कि वह कलि के मल को—उनके समय में प्रचलित दुव्यवस्थाओं को—भलीभांति दूर कर सके। आगे चलकर गोस्वामीजी महाराज कहते हैं :—

"तदपि कही गुरु बारहिंबारा, समुझि परी कछु मति अनुसारा
भाषा बन्ध करबि मैं सोई, मोरे मन प्रबोध जेहि होई।
जस कछु बुधि विवेक बल मेरे, तसि कहिहउं हिय हरि के प्रेरे
निज सन्देह मोह भ्रम हरनी, करउं कथा भव सरिता तरनी
बुध विश्राम सकल जन रंजनि, रामकथा कलिकलुष विभंजनि ॥"

इससे जान पड़ता है कि बारम्बार उन्होंने इस कथा को सुना और गुना (मनन किया, निदिध्यासन किया) और जब अपनी मति-अनुसार इसका मर्म समझ लिया तब "स्वान्तः सुख" (मन प्रबोध) के लिये इसे भाषाबद्ध किया। भाषाबद्ध करते समय उन्होंने न केवल अपनी बुद्धि और अपने विवेक का पूरा बल लगाया किन्तु हरि (प्रभु) प्रेरणा पर भी पूरा भरोसा रखा (यों

कहिये कि तैन्मयता की समाधि-अवस्था में इसे लिखा—भावयोग की पराकाष्ठा में पहुंच कर इसे लिखा)। इस राम-कथा को, उन्होंने, जीव की 'सन्देह मोह भ्रम हरनी' और 'भव सरिता तरनी' बनाकर लिखा अर्थात् भक्तिशास्त्र का रूप देकर लिखा। उन्होंने यह विश्वास करके लिखा कि उनके द्वारा कही हुई राम-कथा हर आमख़ास के लाभ के लिये होगी। ख़ास-ख़ास लोगों को, अर्थात् बुधों को, तो वह सब तरह का सन्तोष देगी। उनकी शङ्काओं को विश्राम, उनकी अशान्ति को विश्राम, उनकी जिज्ञासा को विश्राम, उनकी भावनाओं और चेष्टाओं को विश्राम, उनके भवसंघर्ष को विश्राम। आम लोगों को, अर्थात् सकल जनों को, वह पर्याप्त मनोरञ्जन का आकर्षण देगी। और इस तरह दोनों ही भाँति के लोगों का कलि-कलुष (अव्यवस्था का पारतन्त्र्य) नष्ट कर देगी।

इनका "स्वान्तः-सुख" था लोक-कल्याण में क्योंकि उनका हृदय तो आख़िर एक सन्त-हृदय था ही और सन्तों के अन्तस् की कोमलता और परोपकारिता के विषयमें उन्होंने स्वतः ही कहा है:—

सन्त हृदय नवनीत समाना,
कहा कबिन पै कहइ न जाना।
निज परिताप द्रहइ नवनीता,
परहित द्रवइ सन्त सुपुनीता॥

अतएव, कलियुग की दुर्व्यवस्था मिटकर सतयुग की सी सुव्यवस्था आ जाय, इसी भावना में गोस्वामीजी का स्वान्तः सुख निहित समझना चाहिये।

तब इतनी तैयारी और इतने विश्वास से जो कथा लिखी गई हो उसके सम्बन्ध में यह परम आवश्यक जान पड़ता है कि लेखक की उस समय की मानसिक पृष्ठभूमि को भी कुछ देख-परख लेना चाहिये।

गोस्वामीजी की जीवनी हमें बताती है कि उन्होंने खूब अध्ययन किया था और खूब भ्रमण भी किया था। उनकी रचनाएं भी इस बात का पर्याप्त साक्ष्य दे रही हैं। उनसे यह भी विदित होता है उनमें निरीक्षण की कुशलता, कल्पना की उड़ान, और चिन्तन की गहराई भी बहुत उत्तम कोटि की थी। उनकी सहृदयता और साधुहृदयता कमाल दर्जे की थी। उन्होंने जिस समय मानस का प्रबन्ध काव्य लिखना प्रारम्भ किया उस समय वे साठ वर्षों से ऊपर के हो चुके थे। इस प्रकार खूब परिपक्क अनुभव के अनन्तर ही खूब परिपक्क बुद्धि से उन्होंने इस ग्रन्थरत्न का प्रणयन किया है। अतएव गोस्वामीजी की मानसिक पृष्ठ-भूमिपर कुछ विचार किये बिना हम उनकी रामकथा का मर्म ठीक ढङ्गपर शायद न समझ सकेंगे।

चिन्तन के क्षेत्र दो हुआ करते हैं—एक व्यवहार का और एक परमार्थ का। व्यवहार के क्षेत्र के अनेक अङ्ग हैं—एक नैतिक, एक आर्थिक, एक राजनैतिक, एक धार्मिक, एक साहित्यिक, आदि आदि। इन अङ्गों के भी उपाङ्ग हैं; यथा, नैतिक अङ्ग के उपाङ्ग हैं—व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज आदि, धार्मिक अङ्ग के उपाङ्ग हैं—पंथिक, साम्प्रदायिक आदि आदि। परमार्थ के क्षेत्र में भी अनेक अङ्ग माने जा सकते हैं। एक दर्शन का अङ्ग है जिसमें

द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की गुत्थियाँ हैं, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग की चर्चाएं हैं, सत्य और कल्पना के द्वन्द्व हैं, व्यक्ति और समाज की चिन्ताएं हैं; एक साधना का अङ्ग है जिसमें साध्य (इष्टदेव) का चिन्तन है, साधन के विविध प्रकारों का चिन्तन है, नकद और उधार सिद्धि का चिन्तन है। चिन्तन के उभय क्षेत्रों में गोस्वामीजी की मानसिक पृष्ठभूमि का कुछ विचार कर लिया जाय, तभी हम यह ठीक-ठीक समझ सकेंगे कि क्रिया के क्षेत्र में उन्होंने किस प्रकार के निश्चय किये और परिणामस्वरूप किस प्रकार की अमूल्य निधि हमें दी।

नैतिक क्षेत्र में उन्होंने अनुभव किया कि भारतीय लोग गिरते ही जा रहे हैं। कलियुग सचमुच ही खरा हो उठा है। यमपुर का तो मानों एकदम डर ही उठ गया है और आहार विहार ही को लोगोंने जीवन की इतिश्री सी मान ली है। "सिस्नोदर पर यमपुर त्रास न"। अनुशासन-हीनता इतनी बढ़ गई है कि कोई "अनुजा तनुजा" तक का भी ख़्याल नहीं रखता। कर्तव्यों की इति हो गई है और अधिकारों का बोलबाला है। "बादहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुम्हते कछु घाटि ?" बातें तो लोग बड़ी-बड़ी करते हैं परन्तु अपना व्यक्तिगत स्वार्थ कहीं सामने आ जाय तो बड़े से बड़ा अपराध करने में भी नहीं हिचकते। "ब्रह्म ज्ञान बिनु नारिनर, करहिं न दूसरि बात" किन्तु—"कौड़ी लागि मोह बस करहिं विप्र गुरु घात।" परिणाम यह हुआ है कि ईर्ष्या, द्वेष, कटुक्तियों और लोभ का प्राबल्य है तथा साम्य का दर्शन दुर्लभ हो गया है। "इरिषा पुरुषाच्छर लोलुपता, भरि पूरि रही, समता

विगता। सब लोग वियोग विशोक हये, बरणाश्रम धर्म अचार गये।"

व्यक्ति, कुटुम्ब और समाज सभी तो बिगड़े हुए हैं। व्यक्ति में अनुशासन-हीनता और विलासिता ने घर कर लिया है। कुटुम्ब में न शान्ति है, न सुख है, न सामन्जस्य है। उसमें न बड़े छोटे का कोई अदब क़ायदा है न किसी प्रकार के कौटुम्बिक कर्तव्य का ही कोई ध्यान है। जब व्यक्ति और कुटुम्ब का यह हाल है तब समाज का कहना क्या। आख़िर वह व्यक्तियों और कुटुम्बों ही से तो बना है।

यह कलियुग का नकशा था जो गोस्वामीजी के मानस-पटल पर बराबर खिंच रहा था। समाज में होना चाहिये था सतयुग, पर छाया था कलियुग। सतयुग की रूपरेखा कैसी हो? वह आवे तो कैसे आवे? गोस्वामीजी के मन में गुरुमुख से सुनी हुई रामकथा चक्कर मार ही रही थी। उन्होंने इन सब प्रश्नों का उत्तर उसी कथा में पाया और कथा इस उत्तर के साँचे में ढल चली।

आर्थिक क्षेत्र में उन्होंने अनुभव किया कि मनुष्य विलासिता-पोषक पैसे ही को सब कुछ माने हुये है। इसी पैसे की ग़ुलामी के कारण वह पराधीनता के पाश में जकड़ा हुआ है। मनुष्य-जीवन में यह पैसा ही सब कुछ कैसा हो गया? इसका मोह कैसे टूटे? पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष और कलह उत्पन्न करने वाले इस माया-पाश से समाज की मुक्ति कैसे हो? मनुष्य स्वभाव से ही लोभी है। सौन्दर्य का लोभी भी लोभी ही है और पदार्थ का लोभी भी लोभी ही है। नश्वर वस्तुओं से उसके लोभ की मात्रा

हटाकर क्या अनश्वर वस्तु की ओर वह अर्पित नहीं कराइ जा सकती ?

"कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम।"

यह थी गोस्वामीजी की भावना। अनन्त सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य धाम परमात्मा की ओर अनुरक्ति और इस संसार के क्षणिक संकीर्ण तथा नश्वर ऐश्वर्यों के प्रति विरक्ति, कैसे उत्पन्न कराई जाय। गुरुमुख की रामकथा ने एक चित्र खींच दिया। अवध का समृद्ध राज्य राम और भरत दोनों के द्वारा ठुकराया जा रहा है, लंका का सुवर्ण-सिंहासन शत्रु के बंधु ही को सौंपा जा रहा है, और तारीफ़ यह कि वह भी उसकी सम्पत्ति बानर भालुओं को लुटा दे रहा है, और वे भी मणिमुक्ताओं को चबा-चबाकर फेंक दे रहे हैं !

"रमा विलास राम अनुरागी, तजन वमन इव ते बड़ भागी।"

समृद्धि का समृद्ध वर्णन और साथ ही त्याग का दिव्य अनुराग एक साथ ही इस चित्र में सम्मिलित हो गये और उन्होंने गोस्वामीजी की मानसस्थ रामकथा को एक अपूर्व भव्यता प्रदान कर दी।

सद्गुणों से बढ़कर और समृद्धि कौन हो सकती है ! राम से बढ़कर और धन कौन हो सकता है ! असंतोष से बढ़कर और दरिद्रता कौन है ! पर पीड़ा से बढ़कर और अधमता अथवा अनर्थ कौन है ! अर्थ के चिन्तक को यही सब सोचना समझना था।

राजनैतिक क्षेत्र में उन्होंने अनुभव किया कि भारत के रजुल्ले (छोटे छोटे राजा) आपस में लड़ते रहने की गंवारी कर बैठे और विदेशी यवन को महामहिपाल बना लिया। उसके राज्य में दण्ड ही सर्वोपरि न होगा तो क्या होगा।

"गोंड़ गँवार नृपाल महि, यवन महामहिपाल
साम न दाम न भेद कछु, केवल दंड कराल।"
"नृप पाप परायन धर्म नहीं, करिदंड बिडंब प्रजा नितहीं।"

जिस शासन की परम प्रीति केवल दण्ड पर हो, केवल हिंसा पर हो, उसके पापों का क्या ठिकाना। वही तो रावण-राज्य है। मायाचारी निशाचर त्रेतायुग में रहे होंगे परन्तु कलियुग में तो कायाचारी ही निशाचर कहे जा सकते हैं। और उन्हीं का राज्य हुआ रावण राज्य।

"बरनि न जाय अनीति, घोर निशाचर जो करहिं,
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पापहिं कवनि निति।
बाढ़े खल बहु चोर जुवारा, जे लम्पट पर धन परदारा,
मानहिं मातु पिता नहीं देवा साधुन्ह सन करवावहिं सेवा।
जिन्ह के यह आचरण भवानी, ते जानहु निसिचर सम प्रानी।"

यह था रावण राज्य। भारतीय धर्म और भारतीय संस्कृति से इस रावण को स्वाभाविक चिढ़ थी।

"तेहि बहु बिधि त्रासै, देश निकासै, जो कह वेद पुराना।"

अत्याचारी रावण-राज्य ही तो कलियुगी राज्य था। गोस्वामी जी ने दुख के साथ देखा कि इस रावण-राज्य को ध्वस्त करने की शक्ति समाज में रह ही नहीं गई। त्रस्त सब हैं परन्तु प्रतिकार

किसी से हो ही नहीं रहा है। यहां तक कि समाज के बड़े बूढ़े भी नवयुवकों को ऐसे राज्य से सहयोग स्थापित करके अपना-अपना पेट भरते रहने की ही सलाह देते रहते हैं। कर्तव्य की क्रांति नहीं किन्तु स्वार्थ की पेट भरत् शान्ति ही को उन्होंने "धर्म" बताना प्रारम्भ कर दिया है।

"मातु पिता बालकन्ह बुलावहिं, उदर भरइ सोइ धरम सिखावहिं।"

उस समय की राजनीति ऐसी थी कि धर्म न तो अपने व्यापक अर्थ में पनप पा रहा था और न अपने संकीर्ण अर्थ में। उसका व्यापक अर्थ है कर्तव्य और संकीर्ण अर्थ है सम्प्रदाय। व्यापक अर्थ में यह आवश्यक था कि राजनीति "धर्म" पर आरूढ़ रहे।

"साम दाम अरु दंड विभेदा···नीति धरम के चरन सुहाये।"

"कहहुँ साँच सब सुनि पतियाहू, चाहिय धरम शील नरनाहू।"

इस अर्थ में आदर्श राज्य वह कहा जा सकता है जिसमें शासक विवेक का प्रत्यक्ष अवतार सा हो, उसके सलाहकार (मंत्री तथा सचिव) निजी स्वार्थों से एकदम दूर, प्रत्यक्ष वैराग्यावतार हों; और समूचा देश पवित्रता से भर सा उठे। उस शासन की सेना अनुशासन की मूर्ति हो और शान्ति सुमति सुचिता तथा सुन्दरता का वहाँ इस प्रकार आधिपत्य रहे मानों वही उस राज्य की अर्धांगिनी है।

"सचिव विराग विवेक नरेसू, विपिन सुहावन पावन देसू।
भट जम नियम सैल रजधानी, सान्ति सुमति सुचि सुन्दर रानी।"

मुगल राज्य में यह सब कहां था ?

धर्म के संकीर्ण अर्थ में, शासकों की ओर से धर्मनिरपेक्षता का ही व्यवहार होना चाहिये, परन्तु उस समय भारतीयों का यह हाल था कि शासकों के मोहम्मदी धर्म की असहिष्णुता, जब देखिये तभी, उनके सिर पर सवार रहती थी। श्रुतियों का विरोध तो उस समय एक फैशन सा हो गया था।

"बरन धरम नहिं आश्रम चारी, श्रुति विरोध रत सब नरनारी।"

परम्परागत सद्ग्रंथों का अनुशीलन छोड़कर लोगों ने नये नये पंथ निकालने प्रारम्भ कर दिये थे। उधर शासक यवन कहते थे कि निराकार रहीम ही सब कुछ है और धड़ाधड़ मूर्तियाँ तोड़ते जाते थे ; और इधर सन्त कहाने वाले भारतीय, राम की चूल रहीम के साथ बैठाकर, यह स्वीकार करते चले जाते थे कि वह भी निराकार ही है। सामान्य जनता पर स्वभावतः ही इसका बड़ा घातक प्रभाव पड़ रहा था। वह सोचती थी कि यदि राम और रहीम एक ही हैं तथा दोनों निराकार हैं तब फिर रहीम कहने से भी वही मुक्ति मिल जायेगी जो राम कहने से मिल सकती थी और अधिक लाभ यह होगा कि शासक का स्वीकृत धर्म स्वतः स्वीकार कर लेने पर मुक्ति भी (सांसारिक मान मर्यादा आदि भी), अन्य हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक ही मिलेगी। तब रहीम रहीम कह कर दोनों हाथ लड्डू क्यों न लिये जायँ, व्यर्थ राम राम के पचड़े में क्यों पड़ा जाय। इस तरह संत लोग प्रकारान्तर से भारतीय परम्परा के विच्छेदक और विदेशी शासन की दी हुई श्रृङ्खला के पोषक ही बनते चले जा रहे थे।

"कलिमल ग्रसे धरम सब, लुप्त भये सद्‌ग्रंथ,
दंभिन्ह निज मत कलपि करि, प्रगट किये बहुपंथ।"
"श्रुति सम्मत हरि भगति पथ, संजुत बिरति बिवेक
तेहि न चलहिं नर मोह बस, कलपहिं पंथ अनेक।"

मनुष्य के धन धरती के अपहरण से बढ़कर अपमान-जनक और क्लेशजनक है, उसकी नारियों और उसके धर्म का अपहरण। यदि उसमें मनुष्यता का कुछ भी अंश शेष है तो वह इसके लिये प्रतीकार अवश्य करेगा। प्रतीकार न कर सके तो अत्याचारी के साथ असहयोग तो करे ही।

"संत संभु श्रीपति अपवादा, सुनिय जहाँ तँह असि मरजादा
काटिय तासु जीभ जो बसाई, कानमूंदि नतु चलिय पराई।"

भारतीयों में इतनी शक्ति न रह गई थी कि वे दुर्वाचक विदेशी शासकों की जीभ काट लें। हाँ कानमूँद कर हटना, अथवा असहयोग करना, अवश्य हो सकता था। परन्तु इस असहयोग का उद्देश्य तो "बस" बढ़ाने ही का होना चाहिये न, जिससे निन्दकों की ज़बान पर ताला डाला जा सके। अतएव आवश्यक था कि शासकों से किसी तरह की व्यक्तिगत छेड़छाड़ करने के बजाय उनसे दूर हटकर पारस्परिक संगठन किया जाय। और यह संगठन इस प्रकार किया जाय कि जिसमें हिन्दवासियों के आपसी मतभेद दूर हो जायँ। और वे नारी-अपहरण के विरुद्ध, तथा धन-धरती के अपहरण के विरुद्ध भी अपने कर्तव्यों में बल प्राप्त कर सकें।

गोस्वामीजीने फिर उसी गुरुमुख से सुनी रामकथा का ध्यान

किया। सुग्रीव की धन-धरती को वापिस दिलाने वाले राम, सीता के अपहरण की सफल प्रतिक्रिया करने वाले राम, सुवर्णमयी लङ्का के राज्य को भी विभीषण के हवाले कर देने वाले राम, का ध्यान उनके मन में प्रबल हुआ। गोस्वामीजी की रामकथा अपने समय के राजनैतिक वातावरण के भी सांचे में ढल चली। वस्तु स्थिति का चित्रण हुआ रावण-राज्य में, अभिप्रेत स्थिति का चित्रण हुआ राम-राज्य में। रावण-राज्य हटाकर रामराज्य स्थापित किया जाय, यही हुआ रामचरित मानस लिखने का उद्देश्य।

शासकों के मोहम्मदी धर्म का उल्लेख करते हुए खण्डन मण्डन का पथ ग्रहण करना व्यर्थ ही शासन-सत्ता से उलझ पड़ना होता। आखिर मोहम्मदी धर्म में बुराई ही क्या है। उसमें जो हिंसात्मकता, परधर्म निन्दा (हरिहर निन्दा), निराकारता विषयक दुराग्रह, आदि घुस पड़े हैं, उनका कारण है मोह (अज्ञान) और उस मोह का मद ही मनुष्य को मिथ्याभिमानी बनाता है। यह मोह मद प्रत्येक धर्म के अनुयायी में पाया जा सकता है। अतएव यदि बुरा है तो मोह मद बुरा है, मोह मदी धर्म बुरा है, न कि मोहम्मदीधर्म। रावण यदि मोह मद त्याग कर कोशलाधीश राम के प्रति भी वैसा ही श्रद्धालु हो जाय जैसा वह निराकार परमात्मा के प्रति हो सकता है तो उसके राज्य से भारतीयों का कोई बैर नहीं हो सकता। तभी तो गोस्वामीजी के हनुमानजी ने रावणसे कहा—"परि हरि मान मोहमद, भजहु कोशलाधीश।" भारतीयता के लिये भारत के आदर्श-नरेश राम

के प्रति श्रद्धालु होना किसी भी भारतीय शासन का प्रथम कर्तव्य होना चाहिये।

हिंसात्मकता हरिहरनिन्दा की प्रवृत्ति, और निराकारता विषयक दुराग्रह, गोस्वामीजी को न कभी रुच सकते थे न भारत के "सुराज्य" में उनका कोई स्थान हो सकता था। इसलिये मोहम्मदी धर्म पर किसी प्रकार का आक्षेप न करते हुए भी गोस्वामीजी ने इन तीनों पर खूब ठोकरें लगाई हैं। निराकारता विषयक दुराग्रह तो उनकी रामकथा के संवाद का पूर्वपक्ष ही बना दिया गया है। आधिभौतिक दृष्टिकोण से भरद्वाज राम को सामान्य काम क्रोध वाला मनुष्य बताकर पूछ रहे हैं—

"रामु कवन प्रभु पुछउ तोहीं, कहिय बुझाइ कृपानिधि मोहीं।
एक राम अवधेस कुमारा, तिन्ह कर चरित विदित संसारा।
नारि विरह दुख लहेउ अपारा, भयउ रोष रन रावन मारा।
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि।"

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से पार्वती ब्रह्म को (राम को) निराकार निरवतारी मानकर पूछ रही हैं :—

"प्रभु जे मुनि परमारथ वादी, कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी ·····
राम सो अवध नृपति सुत सोई, की अज अगुन अलख गति कोई।
जौं नृप तनय तौ ब्रह्म किमि, नारि विरह मति भोरि।"

दोनों प्राश्निकों के दृष्टिकोणों का अभिप्राय यही है कि मनुष्यों के आराध्य राम निराकार ही हो सकते हैं न कि कोई राजपुत्र। वे भिन्न हैं और दशरथ सुत अयोध्या नरेश राजाराम एकदम भिन्न हैं। भारतीयता के कल्याण के लिये यह आवश्यक था कि इन

दोनों में अभेद स्थापित किया जाय। गोस्वामीजी ने यही किया और वह इस ढङ्ग पर किया कि "मोहम्मदी" असहिष्णुता भी उसकी बाधक न बन सकी।

भारतीयों में राम का अवतार हो जाय ताकि रावण-राज्य का विध्वंस होकर रामराज्य का विकास हो सके, उनमें पारस्परिक संगठन हो जाय ताकि वे उस रामराज्य का चिरकाल तक उपभोग कर सकें, और वह संगठन इस खूबी से हो कि असहिष्णु अत्याचारी इसका पता भी न पावें, और, कदाचित् पता पा भी जायं तो विरोध मानने के बजाय इसके प्रशंसक होकर ही रहें। अपनी परिस्थिति में यही गोस्वामीजी का इष्ट मन्तव्य हुआ।

राम का अवतार हो तो कैसे हो? सोचते सोचते गोस्वामीजी ने स्थिर किया कि आखिर शब्द भी तो ब्रह्म का एक रूप ही है। "नाम रूप दुइ ईस उपाधी"। वह ईश इस समय दृष्टिगोचर न हो तो श्रुतिगोचर तो हो ही सकता है। "राम" न सही राम की कथा सही, राम का नाम सही। यह नाम तो अगुन सगुन, निराकार साकार, दोनों को समेटे हुए है और प्रभाव में दोनों से सवाया ही सिद्ध होता है। तब फिर ज्योतिष का सहारा लेकर इसी नाम में प्रभु का अवतार क्यों न करा दिया जाय। रामकथा का नवनिर्माण ठीक उसी समय और उसी स्थान से प्रारम्भ हो जिस समय और जिस स्थान में भगवान् रामचन्द्र प्रगट हुए थे। दोनों की जन्म कुण्डलियां एकदम एक हो जायं, फिर दोनों का फलादेश भी निश्चय ही एक समान होगा। जो राम की जन्मकुण्डली रही वही रामचरित मानस की जन्मकुण्डली बनी। इस तरह ज्योतिष

के सहारे गोस्वामीजी ने मानस के रूप में राम का अवतार करा दिया।

इस अवतार के सम्बन्ध में मंत्रों और उपयुक्त देवताओं का भी सहारा मिल सके तो फिर कहना ही क्या। गोस्वामीजी की गुरु परम्परा के अनुसार "सीताराम" अथवा "राम" से बढ़कर मंत्र और शंकर से बढ़कर मंत्र-प्रेरक देव कोई हो ही नहीं सकता था। इसलिये उनकी रामकथा शंभु-प्रसाद से प्रसादित होनी चाहिये और उसकी प्रत्येक चौपाई "र" अथवा "म" के अक्षरों से अभिमंत्रित होनी चाहिये। यहां तक कि प्रत्येक पंक्ति (अर्धाली) भी 'र' 'म' 'स' अथवा 'त' से अवश्य विभूषित रहे। अपनी रामकथा की प्रभावात्मकता के सम्बन्ध में गोस्वामीजी ने यही किया। उन्होंने एक ओर कहा कि—

"सपनेहु सांचेहु मोहि पर जौ हर गौरि पसाउ
तौ फुर होउ कहउँ जौ भाषा भनिति प्रभाउ।"

और दूसरी ओर घोषणा भी कर दी कि उनपर हर का "पसाउ" हो गया है।

"शंभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी, रामचरित मानस कवि तुलसी।"

राम मंत्र से अभिमंत्रित और शंकर के प्रसाद से सम्पन्न उनकी रामकथा वास्तव में ही एक प्रासादिक महाकाव्य बनकर निकली और प्रभावोत्पादकता उसने वह विलक्षण दिखाई मानो सत्यतः ही इस वाणी का शरीर धरकर भगवान् राम फिर से इस धरा पर अवतीर्ण हो गये हों।

'रामचरित मानस' रूपीराम प्रत्येक भारतीय के मानसस्थ

रामत्व को जगाकर किस प्रकार रावण राज्य का विध्वंस कर चुके और कर रहे हैं तथा किस प्रकार रामराज्य का विकास कर चुके और कर रहे हैं यह प्रत्येक मानस प्रेमी से छिपा नहीं है।

भारतीयों में पारस्परिक संगठन हुए बिना रामराज्य का उपभोग चिरकाल तक नहीं किया जा सकता था। गोस्वामीजी इस बात को भलीभांति समझ चुके थे। संगठन उनका हो जो शिष्ट हैं, सज्जन हैं, संत हैं। संसार में शिष्ट और दुष्ट अथवा संत और असंत दोनों प्रकार के जीव हैं। असंतों अथवा दुष्टों का उद्धार अवश्य हो परन्तु पहिले संतों अथवा शिष्टों का संगठन तो हो जाय। दोनों की पहिचान क्या है यह जानना ज़रूरी है। "संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।" खलों, दुष्टों, दुर्जनों, द्रोहियों से झगड़ा करना बेफ़ायदा है। "उदासीन नित रहिय गुसाईं, खल परिहरिय स्वान की नाईं।" कुत्ते को पुचकारा तो वह मुंह चाटेगा, दुत्कारा तो वह भौंकेगा और मुमकिन है काट भी खायगा। इसलिये उससे न दोस्ती अच्छी न दुश्मनी अच्छी। संतों से अलबत्ता हर तरह की दोस्ती ही अच्छी है। संतों के कई वर्ग हैं। जो सज्जन हैं वे संत हैं। विविध पंथों के प्रचारक भी सन्त हैं और परम्परागत संस्कृति के संरक्षक ब्राह्मण लोग भी सन्त ही हैं। शैव भी सन्त हैं वैष्णव भी सन्त हैं। अपने पूज्य कुटुम्बी और अपने इष्ट मित्र भी सन्त ही हैं। वैष्णवों (वेषधारी और सन्त नामधारी भक्तों) तथा ब्राह्मणों (शास्त्रधारी पंडितों) का संघर्ष, साम्प्रदायिक कलह और वैमनस्य, युवकों का वृद्धों के प्रति तिरस्कार, आदि आदि विषय, भारतीय संगठन के विपरीत

थे। गोस्वामीजी की रामकथा ही कैसी जिसमें इन सभी दृष्टिकोणों से, पारस्परिक संगठन के सुलझे हुए सिद्धान्त, ओतप्रोत न हों।

सभी प्रकार के सज्जनों में संगठन कराया जा सकता था इसी रामकथा के द्वारा। यह गा-गाकर सुनाई जाय, नाटकीयता के ढङ्गपर अभिनीत हो, वक्ता श्रोता के रूप में संवादात्मक ढङ्ग पर कही सुनी जाय और इस प्रकार सामूहिक ढङ्ग पर इसका प्रचार हो। परन्तु जो द्विजद्रोही, अर्थात् भारतीय संस्कृति के द्रोही, शासक हैं उनके पास इसके कहने की कोई जरूरत नहीं।

"द्विज द्रोहिहिं न सुनाइय कबहूं सुरपति सरिस होइ नृप जबहूं।"

शठों, हठवादियों, और अश्रद्धावालों को भी इस कथा को सुनाने से कोई लाभ नहीं "यह न कहिय शठ ही हठ शीलहिं जोमन लाय न सुन हरि लीलहिं।" इतने पर भी यदि कोई विधर्मी अथवा विरोधी इस कथा की ओर आकृष्ट हों तो वे भी इस कथा को इस रूप की पायें कि उनका भी मनोरञ्जन ही होकर रहे। और कुछ नहीं तो दिल्लगी ही सही—हास्य रस ही सही।"

"बुध बिस्राम, सकल जन रञ्जिनि, रामकथा कलि कलुप निकंदिनि"।

कथा वह जिसकी तारीफ़ सहज बैरी भी कर उठे।

"सरल कबित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान,
सहज बैर विसराय रिपु, जो सुनि करहिं बखान।"

साकार का विरोधी मोहम्मदी भी जब कि साकार के कथारस में डूबकर मोह-मद-विरोधी बन जाय, तभी तो कथा की सार्थकता

है। गोस्वामीजी का यह इष्ट मन्तव्य उनके मानस में स्थल स्थल पर दर्शन दे रहा है।

रावण राज्य में 'समता विगता' हो गई थी रामराज्य में 'विषमता खोई' जाती है। यह विपमता डण्डे के ज़ोर से अथवा हिंसा के मार्ग से नहीं हटाई जा सकती। यह तो तभी हटेगी जब "बयरु न करू काहू सन कोई।" अहिंसा अथवा प्रेम का मार्ग ही ऐसा साम्य ला सकता है।

"सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं स्वधर्म निरत स्रुतिरीती।"

कर्तव्य की विभिन्नताओं का निर्वाह करने ही में प्रेम का ऐक्य स्थापित हो सकता है। ऐसे ही साम्य के बल पर अज्ञान, आमय और अभाव का उच्छेद करके विवेक, स्वास्थ्य और समृद्धि का सञ्चार किया जा सकता है।

"नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना,
नहिं कोई अबुध न लच्छन हीना,
अल्प मृत्यु नहीं कवनिउ पीरा
सब सुन्दर सब विरुज सरीरा।"

रामराज्य के सफल चित्रण में गोस्वामीजी का "स्वान्तः सुख" सन्निहित हो उठा। अन्तःकरण वह चित्रण किये बिना माना ही नहीं। यह थी उनकी राजनैतिक क्षेत्र की विचार-सरणी और क्रिया-पद्धति।

धार्मिक क्षेत्र—साम्प्रदायिक अर्थ में लिया जाने वाला धार्मिक क्षेत्र—तो गोस्वामीजी का ख़ास विचरण-क्षेत्र था। माता पिता ने उन्हें बचपन से ही त्याग दिया था और गुरु कृपा से ही उनका

लालन पालन हुआ था। युवावस्था में उन्होंने थोड़े दिनों तक गृहस्थी की और फिर शीघ्र ही एक ठोकर खाकर संसार से विरक्त हो गये। इस तरह साधु सन्तों का वातावरण उनका अपना वातावरण हो गया था। उस वातावरण में उन्होंने अनुभव किया कि इस भारत में मतमतान्तरों और पन्थों सम्प्रदायों की कोई सीमा ही नहीं।

"मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा, पण्डित सोइ जो गाल बजावा।"

धर्म के नाम पर आडम्बर तथा भ्रष्टाचार भी इतना बढ़ गया है जिसकी कोई सीमा ही नहीं जान पड़ती।

"मिथ्यारंभ दंभरत जोई, ताकहुँ सन्त कहहिं सब कोई।"

निराचार जो श्रुति पथ त्यागी, कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी।

नारि मुई घर सम्पति नासी, मूड़ मुड़ाइ होहिं सन्यासी।

गुरु सिष बधिर अन्ध कर लेखा, एक न सुनहिं एक नहिं देखा।" इत्यादि

आजकल की जनगणना के अनुपात से यह निश्चित कहा जा सकता है कि उस समय भी भारत के कम से कम पाँच सैकड़ा व्यक्ति ऐसे होंगे जो धर्म के नाम पर अपनी जीविका उपार्जित कर रहे होंगे। बीस करोड़ पीछे कम से कम एक करोड़। धर्म के नाम पर अपना-अपना पेट भरने वाले, अपनी अपनी जीविका चलाने वाले, इतने लोग, यदि सुसंगठित होकर समाज-उद्धार के लिये कमर कसलें तो भारत ही क्यों समूचे संसार का उद्धार हो जाय। यह कार्य बने तो कैसे बने? वे सब तो आपस ही में झगड़ रहे थे। "बहुमत मुनि, बहु पन्थ पुराननि, जहां तहां झगरो सो।"

भारत सदैव से धर्मप्राण रहा है। यहां सभी कुछ धर्म के नाम पर बिकता आया है। स्वास्थ्य के नियम भी धर्म के अङ्ग हैं। सौन्दर्य के उपकरण भी धर्म के अङ्ग हैं। ज्ञान विज्ञान के चमत्कार भी धर्म के अंग हैं। तब फिर शिष्टाचार और सदाचार के नियम तो धर्म के अंग कहे ही जावेंगे। अर्थ और काम की समस्यायें धर्म ही में दाख़िल हैं। संसार की सभी दिशाओं का अभ्युदय धर्म का अंग है। परलोक का समूचा निःश्रेयस् तो फिर उसका अंग होने ही वाला है। अतएव धर्ममें प्रेय और श्रेय की सभी बातें आ गई हैं। आहार से लेकर, अर्थात् क्या खाना, किसके हाथ का छुआ खाना आदि से लेकर ब्रह्मसाक्षात्कार तक की अर्थात् परलोक स्वर्ग, इष्टदेव, आत्मचिन्तन, मोक्ष, आदि आदि तक की सभी बात धर्म शब्द के अर्थ में निहित हैं। आम की गुठली, आम के रेसे, आम का रस, आम का छिलका, आम का रंग, सब कुछ आम ही है, परन्तु इनमें से निश्चय ही कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें हम आम का गौण अंग कह सकते हैं, यथा उसका रंग, और कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें हम आम का प्रधान अंग कह सकते हैं, यथा रस। गौण वस्तुएँ समय-सापेक्ष रहती हैं और वे बदलती भी जाती हैं। उन्हीं को आग्रह पूर्वक अपनाये रहना और उन्हीं के नाम पर आपस में लड़ पड़ना संकीर्णता है, साम्प्रदायिकता है। मूलतत्व की बात को ही ज़ोर देकर सामने लाना विशालता है, सच्ची धार्मिकता है।

भारत के धर्म क्षेत्र में अनादि काल से दो विचार धारायें चली आ रही हैं; एक है वैदिक संस्कृति की विचारधारा और

एक है श्रमण संस्कृति की विचारधारा। पहिली विचारधारा में पाण्डित्य का और बाह्याचार तथा कर्मकाण्ड का ज़ोर है, दूसरी में अन्तः साधना तथा अन्तः शुद्धि का ज़ोर है। दोनों विचार-धाराओं में परस्पर आदान प्रदान और सहयोग संगठन आदि भी होता जा रहा है; फिर भी, दिल और दिमाग की तरह, धर्म शरीर में इन दोनों विचार-धाराओं के अलग-अलग स्पष्ट दर्शन किसी भी काल में किये जा सकते हैं। गोस्वामी जी ने ब्राह्मणों को पाया वैदिक संस्कृति की विचारधारा के प्रतीक और संतों ('भेस' धारी साधुओं) तथा पंथ-प्रवर्तकों को पाया श्रमण-संस्कृति की विचार-धारा का प्रतीक। श्रमण-संस्कृति का प्रधान स्तम्भ बौद्ध धर्म तो भारत से बहिष्कृत हो चुका था। जैन धर्म लुका-छिपा सा जीवन यापन कर रहा था। बौद्धों के वज्रयान से प्रभाव पाकर सिद्धों और नाथों ने जो परिष्कृत परम्परा चलाई थी उसीसे स्फूर्ति पाकर कबीर, नानक आदि के विविध पंथ चल पड़े थे जो न तो वेदों की मान्यता पर जोर देते थे और न अवतारवाद की बात ही मानते थे। इधर वैदिक-परम्परा का विस्तार प्रस्तार इतना अधिक हो चुका था कि मानव-जीवन के प्रत्येक अंग के विकास के तत्व उसमें खूब सज संवर चुके थे। सनातन काल से चली आई हुई यही परम्परा भारत भर में अच्छी तरह व्याप्त हो चुकी थी। यदि विधर्मियों के मुकाबिले में स्वराष्ट्र और स्वधर्म की रक्षा की जा सकती थी तो आवश्यक था कि बहुजन-ग्राह्य इस परम्परा का सहारा ही ताका जाय। मुस्लिम विजेताओं के धर्म में एक आराध्य था—निराकार परमात्मा, एक महाग्रन्थ था—

क़ुरान शरीफ़, और एक महामानव थे हज़रत मोहम्मद साहब। उसके मुकाविले में "मारग सोइ जा कहँ जोइ भावा" से काम नहीं चल सकता था। पंथ-प्रवर्तक संतों ने निराकार परमात्मा ही को एक मात्र आराध्य बताया और भारतीय संस्कृति की प्रेरणा से उसका नाम रक्खा "राम"; परन्तु श्रुति-विरोध और पारस्परिक अनेकताओं के कारण न तो उन सबका मान्य कोई एक महाग्रन्थ बन सका और न एक महामानव। भारतीय परम्परा 'श्रुति' को महाग्रन्थ मान ही रही थी और गोस्वामीजी के चित्त में "राम" महामानव रूप से पहिले ही से रम चुके थे। श्रुति परम्परा में सगुण साकार परमात्मा की भी मान्यता है। अतः अवतारवाद के सहारे एक ही "राम" से पथदर्शक महामानव और मुक्तिदायक परम आराध्य दोनों का काम चल सकता था। वे ही गुरु भी हो सकते थे और वे ही गोविन्द भी। गोस्वामीजी ने स्थिर किया कि भारत के लिये यही पथ प्रशस्त हो सकता है न कि वेद-निन्दा अथवा अवतारवाद के खण्डन वाह्य पथ। सन्तों और श्रमणों को पूरी इज्जत देते हुए तथा उनकी अन्तः शुद्धि, नाम-आराधना आदि की बातें सादर ग्रहण करते हुए भी, गोस्वामीजी ने, इसलिये, वेदनिन्दकों और अवतारवाद न मानने वालों की कड़ी आलोचना और तीव्र भर्त्सना की है।

वैदिक परम्परा में, मनोवैज्ञानिक आधार के अनुसार मानवी विकास के तीन मार्ग बताये गये हैं जो हैं कर्ममार्ग, भक्ति मार्ग, और ज्ञान मार्ग। कर्ममार्ग में यज्ञ, तप और दान के भेद प्रभेद भरे पड़े हैं जो सकाम भी हो सकते हैं और निष्काम भी। भक्ति-

मार्ग में शैवों, शाक्तों और वैष्णवों की साधना-पद्धतियां हैं। ज्ञानमार्ग में द्वैतवाद, अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद आदि की गुत्थियां है। फिर, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार तथा क्षर-अक्षर विचार नाम से दो विचार धाराएँ ऐसी हैं जो व्यक्तिगत साधना और सामूहिक साधना की बातें सामने लाती हैं—साधुमत और लोकमत की चर्चा का विषय बनती हैं। इन सबको भलिभाँति जाने परखे बिना भारत के धार्मिक क्षेत्र में सन्तोषप्रद स्थिति लाई ही कैसे जा सकती थी। गोस्वामीजी ने यह सब जाना परखा और अपने कुल सिद्धान्त स्थिर किये।

पहिला सिद्धान्त था युगधर्म का। स्थान के भेद से, काल के भेद से और प्रवृत्ति के भेद से अपने कर्तव्य कर्मों में भी भेद हो जाया करता है। इसी कर्तव्य-भेद का नाम है युग धर्म। सभी देशों और सभी समयों के मनुष्यों को एक ही आचार की लाठी से नहीं हाँका जा सकता। योग की कठिन साधना सतयुग की बात है, यज्ञ का विस्तार प्रस्तार त्रेता की बात है, पूजा अर्चा का मठ मन्दिर मूर्ति युक्त औपचारिक विधान द्वापर की बात है। कलि-युग में जब कि भारतीय राष्ट्र पराधीनता की सांसें ले रहा हो और इस्लाम का सा विधर्म सिर पर तना हुआ हो, वह न तो सामूहिक रूप से योग की कठिन साधना में प्रवृत्त हो सकता है, न यज्ञ के विस्तार में जा सकता है और न मठ मन्दिरों के सुचारु संरक्षण और संवर्धन के प्रति ही अपने कर्तव्य पूरे कर सकता है। भगवान् के नाम का जप उसके लिये सामूहिक रूप से इस अवस्था में भी सुलभ है। इसी में निराकारवादियों और साकारवादियों,

सभी का ऐकमत्य हो जाता है। अतः गोस्वामीजी ने इसे ही कलि का आचरणीय धर्म निरूपित किया। संगठन और साम्य की स्थापना के लिये दान तत्व भी परम सहायक है अतएव वह भी कलि का एक प्रधान धर्म कहा गया। साथ ही, दूसरे धर्माचारों के प्रति उपेक्षा भी नहीं की गई। जिसमें जैसी शक्ति और प्रवृत्ति हो वह वैसे धर्माचारों को भी मान्यता देता जाय। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में प्रति दिन चारों युगों का चक्कर लगा करता है और इसीलिये—

"नित युग धर्म होंहि सब केरे, हृदय राम माया के प्रेरे।"

दूसरा सिद्धान्त था साम्प्रदाय निरपेक्षता का। आज कल जिस धर्म–निरपेक्षता की बड़ी पुकार है उसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य अधार्मिक हो जायँ। उसका अर्थ केवल यही है कि शासन किसी सम्प्रदाय विशेष के लिये दुराग्रही न हो। गोस्वामीजी भी भारतीय समाज को इसी भावना से ओत प्रोत देखना चाहते थे। इसी में वे उसका कल्याण समझते थे। प्रत्येक पन्थ और सम्प्रदाय की अच्छाइयां एकत्र करके उन्हें एक सुसंगठित रूप दे देना और उसे इस प्रकार रख देना कि उसके ग्रहण करने के लिये किसी भी व्यक्ति को अपना परम्परागत सम्प्रदाय त्यागने की जरूरत न हो, यही गोस्वामीजी को इष्ट था। यह थी उनकी सम्प्रदाय-निरपेक्षता। उनकी रामकथा का रस लेने के लिये अथवा उससे लाभ उठाने के लिये जैन को अजैन नहीं होना पड़ता शैव को अशैव नहीं होना पड़ता, यहांतक कि मुस्लिम को अमुस्लिम नहीं होना पड़ता और क्रिश्चियन को अक्रिश्चियन नहीं होना पड़ता।

उन्होंने गीता की अनासक्ति, श्रमणों का अहिंसावाद, वैष्णवों का अनुराग; शैवों का वैराग्य, शाक्तों का जपयोग, शंकराचार्य का अद्वैतवाद, रामानुज की भक्तिभावना, निम्बार्क का द्वैताद्वैतभाव, मध्व की रामोपासना, वल्लभ का बालरूप आराध्य, चैतन्य का प्रेम, गोरख आदि योगियों का संयम, कबीर आदि संतों का नाम माहात्म्य ही नहीं, किन्तु मुसलमानों का मानव-बन्धुत्व तथा सामूहिकत्व भी आदर सहित अपनाया और इन्हें एक में मिलाकर तैयार की हुई रसायन को सभी व्यक्तियों के लिये सुलभ करने की मन में ठानी। धर्म की चर्चा में ही प्रायः मतभेद हुआ करते हैं और साम्प्रदायिकता बढ़ा करती है। नक़द धर्म में मतभेद कहां। 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणं।' एकादशी का व्रत रखने से हमको स्वर्ग मिलेगा यह हुई उधार धर्म की बात। किसने देखा है कि ऐसा होगा ही। स्वर्ग के वर्णन में कल्पना ही तो विशेष काम किया करती है। इसलिये स्वर्ग के रोचक वर्णनों के प्रलोभनों में—धाम धाम की विशिष्ट चर्चाओं में साम्प्रदायिक भेद होने स्वाभाविक हो जाते हैं। सम्प्रदाय-निरपेक्षता का यह तक़ाज़ा है कि स्वर्गादि के प्रलोभन सामने न रखकर नक़द धर्म की बात स्पष्ट की जाय। एकादशी का महत्व एकादशी के व्यावहारिक लाभ को ही स्पष्ट करके बताया जाय।

"को जानें को जै है जमपुर को सुरपुर परधाम को।
तुलसिहि बहुत भलो लागत जगजीवन रामगुलाम को।"

धर्म का ऐसा रूप सामने रखा जाय जिसका पालन करते ही आत्मतुष्टि मिलने लगे—रस आने लगे—कल्याण आँखों के सामने

दिखाई पड़ने लगे। शैव और वैष्णव, यहां तक कि आस्तिक और नास्तिक भी जिसके प्रति सहज ही आकृष्ट हो जांय और समानरूप से अपना लेनेकी चेष्टा करने लगें; यह हुआ गोस्वामीजी का अभीष्ट।

तीसरा सिद्धान्त था समन्वयात्मकता अथवा सामञ्जस्य का। प्रत्येक वस्तु में गुण भी है दोष भी है। दोष ही दोष देखने के दृष्टिकोण की अपेक्षा गुणही गुण देखने का दृष्टिकोण हज़ार दर्जे अच्छा है। "सन्त हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार।" इन गुणों के दृष्टिकोण से, विरुद्ध सी लगनेवाली परम्पराओं में भी, समन्वय अथवा सामन्जस्य बहुत सरलतापूर्वक स्थापित किया जा सकता है। प्रत्यक्ष में कृपा और क्रिया, दया और न्याय, आसक्ति और विरक्ति, विश्वास और विवेक, वस्तु और विवर्त में बड़ा विरोध जान पड़ता है परन्तु भक्ति के आचार्यों ने इन दोनों का सामञ्जस्य करही दिखाया है। उसी प्रकार क्या शिव, शक्ति और विष्णु के सदृश परम आराध्यों में भी सामञ्जस्य नहीं स्थापित किया जा सकता? शिव और शक्ति को परस्पर पूरक बनाकर अर्धनारीनटेश्वर की सुन्दर कल्पना पहिले ही हो चुकी थी। पुराणों ने यह भी कह रखा था कि "शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोस्तु हृदयं शिवः।" पौराणिक आख्यानों में रामकथा ही एक ऐसी थी जिसके वक्ता श्रोता थे शिव और शक्ति तथा जिसके लीला नायक थे महाविष्णु। इस कथा में राम द्वारा यदि शंकर-भक्ति का समर्थन कर दिया जाय ("शंकर भगति बिना नर भगति न पावहिं मोरि") और राम की ही सर्वश्रेयस्करी

शक्ति सीता द्वारा शिव की अर्धांगिनी शक्ति पार्वती के लिये "भवभय विभव पराभव कारिनि, विस्व विमोहिनि स्वबस विहारिनि" कहलाकर उनकी चरण-वंदना करवाई जाय, तो इन आराध्यत्रय की सम्मान-रक्षा करते हुए, इन्हें, अथवा इनके मानने वालों—साम्प्रदायिकों—को, एक सूत्र में ग्रथित किया जा सकता है, और उनके बीच सामञ्जस्य बड़े मज़े से स्थापित किया जा सकता है। गोस्वामीजी का ध्यान स्वभावतः ही इस ओर गया।

चौथा सिद्धान्त था संगठन-सूत्र का। मनुष्य सम्प्रदाय-निरपेक्ष रहें और फिर भी वे परस्पर संगठित हो जायं। वे व्यक्तिगत साधना के लिये स्वतंत्र रहते हुए भी एक ही सी साधनापद्धति प्रेम से अपनालें ताकि सामूहिकता आप ही आप सुदृढ़ हो जाय। भारतीय ही नहीं अभारतीय भी यदि चाहें तो इस संगठन में सम्मिलित होकर अपने को और अपने समाज तथा अखिल मानव समाज को संशुद्ध करलें। यह सब हो कैसे। संगठन का वह कौनसा सूत्र हो सकता है जो सम्प्रदायनिरपेक्ष लोगों को भी एक में बाँध सके, साथ ही जो समन्वयात्मकता और युगधर्म के किसी प्रकार प्रतिकूल भी न बैठे? गोस्वामीजी को रामनाम तो गुरु मुख से मिल ही चुका था और रामकथा भी गुरूमुख से मिल चुकी थी। उनके तर्क और विवेक ने इसी नाम और इसी कथा में उस सूत्र के दर्शन किये।

यह पहिले बताया जा चुका है कि रामनाम इस भारत में वैदिक काल से ही लोकप्रिय हो चुका था। श्रमण-विचारधारा को विरासत में पानेवाले निर्गुणवादी सन्तों ने इसी नाम को

परमात्मा का प्रधान शब्द-प्रतीक माना। साधकों ने तो व्युत्पत्ति ही की कि जिसमें योगी लोग रमण करें वही तत्व राम है। विदेशी विद्वानों तथा संतो ने भी अरबी 'अल्ला अल्ला' की जोड़ पर भारतीय 'राम राम' शब्द ही की समानता स्वीकार की। मौलाना हाफ़िज ने "हाफ़िज़ा गर वस्ल ख़्वाही, सुलह कुन् बा ख़ासो आम, बा मुसल्मां अल्ला अल्ला, बा बिरह्मन राम राम"—कह कर इसी तथ्य को तो प्रकट किया है। वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रंथ पुकार पुकार कर कह रहे थे कि जो राम है वही कृष्ण है और इस तरह कृष्ण भी राम नाम के अधिकारी हुए। शैव सम्प्रदाय के ग्रंथों मे यह मान्यता थी ही राम कथा शिवजी के मानस से निकली है तथा 'रामनाम' के इस तारक मंत्र के भी आदि आचार्य वे ही हैं। शाक्त ग्रंथ भी रामनाम और रामचरित चर्चा से ख़ाली नहीं थे। जैनियों के धर्मग्रन्थों में भी रामनाम और रामकथा का [illegible] स्थान था। सभ्य कहाने वाले प्रत्येक भारतीय के हृदय में रामनाम के प्रति आदर था। अतः धर्मप्राण भारतीयों के संगठन के लिये इस नाम से बढ़कर और कौन सूत्र हो सकता था?

गोस्वामीजी ने देखा कि परमात्मा के इस पवित्र नाम के साथ एक कथा भी जुड़ी है। वह कथा है एक आदर्श मनुष्य की, एक आदर्श परिवार की, एक आदर्श राज्य व्यवस्था की। कथा का इतिहास पहिले हुआ और नाम की महिमा पीछे बढ़ी अथवा नाम पहिले प्रगट हुआ और उसके प्रभाव से कथा का यह इतिहास पीछे अवतरित हुआ; इस विषय की चर्चा यहां अभीष्ट नहीं है। पिछले परिच्छेद में सत्य के स्तरों की चर्चा करते हुए इस विषय

पर हम पर्याप्त कह आये हैं। यहां तो इतना ही बताना अभीष्ट है कि दोनों में चाहे व्याप्य-व्यापक-भाव माना जाय और चाहे अंग-अंगीभाव माना जाय परन्तु भारतीय परम्परा ने दोनों को जोड़कर रखा अवश्य था। निर्गुणवादी सन्तों ने इन दोनों को अलग करने का प्रयत्न किया। "दशरथ सुत तिंहु लोक बखाना, रामनाम कर मरम है आना।" गोस्वामीजी ने भी दोनों की एकदम एकता पर कोई ख़ास दुराग्रह नहीं दिखाया और स्पष्ट ही रामनाम को शरीरी राम (राजाराम) से अधिक बनाया। "प्रिय रामनाम तें जाहि न रामो, ता को भलो कठिन कलि कालहु आदि मध्य परिनामों।" परन्तु उन्होंने भारतीयता (और भारतीयता ही क्यों? किन्तु मनुष्यता) के कल्याण के लिये राम कथा को रामनाम से एकदम अलग कर देना किसी भी प्रकार उचित न समझा। नाम का जप अथवा नाम का स्मरण तो साधकों के लिये है, परन्तु उस नाम के साथ जब तक कल्याण प्रदता की भावनाएं प्रकट करने वाली कुछ गाथाएं न जुड़ी हुई होंगी तब तक उस नाम के लिये श्रद्धा कैसे उमड़ेगी, उस पर विश्वास कैसे जमेगा, उसके प्रति प्रेम कैसे तरंगित होगा? कल्याणप्रद कथाओं के संयोग से नाम में वह आकर्षण उत्पन्न हो जाता है कि उसके आधार मात्र से हृदय एक अपूर्व रस में भावविभोर हो उठता है। "राम" और "गाड" का शब्दार्थ भले ही एक हो परन्तु भारतीय मानस पटल पर इस कथा की पृष्ठभूमि के कारण ही "राम" शब्द जो प्रभाव दिखा उठता है वह न 'गाड' शब्द दिखा सकता है और न 'अल्लाह' शब्द। महात्मा गांधी ने ठीक ही लिखा था कि

"राम शब्द के उच्चार से लाखों करोड़ों हिन्दुओं पर फ़ौरन् असर होगा और गाड शब्द का अर्थ समझने पर भी उसका उनपर कोई असर न होगा।" अतएव संगठन सूत्र के सम्बन्ध में गोस्वामीजी ने रामनाम के साथ रामकथा का भी सहारा पकड़ा।

भारत के किसी भी सम्प्रदाय का कोई भी व्यक्ति क्यों न हो वह भारत के महापुरुषों के प्रति स्वाभिमानी होगा ही, उनके प्रति श्रद्धालु होगा ही। अतीत के ऐसे सब महापुरुषों में अयोध्या नरेश राजाराम का आदर्श एकदम अद्वितीय है। वे अपने इसी आदर्श जीवन के कारण मर्यादा पुरुषोत्तम कहाते हैं। पुरुष की उत्तमता जिस मर्यादा तक जा सकती है वह हमें राम में, अनायास मिल जाती है। उनकी सादगी अपूर्व, उनकी शक्ति अपूर्व, उनकी सर्वसुलभता और शरणागत वत्सलता अपूर्व, उनका ऐश्वर्य अपूर्व और साथ ही उनका त्याग भी अपूर्व। किस किस गुण की तारीफ़ की जाय। उनका आत्म-संयम देखिये, उनका कुटुम्ब पालन देखिये, उनका राज्य शासन देखिये, सभी कहीं वे आदर्श हैं। मनुष्य अपने जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में उनके चरित्र से स्फूर्ति प्राप्त कर सकता है, उनके कथा-रस से अपनी विषमताओं को धोकर अमृत आनन्द प्राप्त कर सकता है। रामनाम जपने से स्वर्ग मिले या न मिले परन्तु राम चरित्र की मर्यादा में अपने चरित्र को ढालकर चलने से, राम का अनुचर बनकर चलने से, भारतीय का भला तो निःसन्देह होगा। गोस्वामीजी ने अपने अनुभव से यह बात स्पष्ट देखी।

"को जानै को जैहै जमपुर, को सुरपुर पर धाम को ;
तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को।"

परमात्मा न सही तो भारतीय महापुरुष मान कर ही सही, इस आदर्श चरित्र की ओर प्रत्येक सम्प्रदाय के भारतीय झुकेंगे। इस झुकाव के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे अपना अपना सम्प्रदाय छोड़ दें। परन्तु यह झुकाव उन्हें अलक्षित रूप से एक ही तरह की जीवनचर्या और एक ही तरह की विचारधारा देकर उनके पारस्परिक संगठन में निश्चय सहायक होगा। अतएव आवश्यकता थी कि यह कथा अत्यन्त आकर्षक और अत्यन्त आदर्श रूप में जनता के समक्ष रखी जाय तथा वह राम नाम के साथ भलिभाँति सम्बद्ध करके रखी जाय।

राम का आदर्श केवल भारतीय नहीं किन्तु विश्व के मानवों का भी आदर्श हो सकता है। उस पावन चरित्र के अनुकरण में किसी को किसी प्रकार की भी रोक नहीं। उसमें बुद्ध का त्याग, ईसा की शांति और मुहम्मद साहब का उत्साह, सभी कुछ तो है। उसके अनुकरण के लिए अहिन्दू को हिन्दू होने की ज़रूरत नहीं। वह व्यक्ति के लिए अनुकरणीय है, कुटुम्ब के लिये अनुकरणीय है, अखिल समाज के लिए अनुकरणीय है। ऐसी कथा से किस समझदार व्यक्ति का विरोध हो सकता था ?

रामनाम आध्यात्मिक क्षेत्र का सत्य है और राजाराम आधिभौतिक क्षेत्र के सत्य हैं। इन दोनों क्षेत्रों के सत्यों को परस्पर सम्बद्ध कर देने वाला है आधिदैविक क्षेत्र का सत्य, जिसके अनुसार राम न केवल निराकार हैं, न केवल नराकार हैं, किन्तु एक

विशिष्ट नाम-रूप-लीला-धाम वाले अजर अमर इष्ट देव भी हैं, सुराकार भी हैं। यह साधकों के क्षेत्र का सत्य है—भावयोग के लिये, कल्पना की तुष्टि के लिये, हृदय की शांति के लिये समुद्भूत सत्य है। सत्य के इस त्रैविध्य के बिना सभी प्रवृतियों के मनुष्य का संतोष नहीं हो सके तो आध्यात्मिक सत्य के क्षेत्र में जो शिव हैं वही विष्णु हैं वही अल्लाह और गाड हैं और उन्हीं का नाम है राम। आधिभौतिक सत्य के क्षेत्र में राम तो अवश्य हैं परन्तु शिव, विष्णु अल्लाह या गाड का कहीं पता नहीं। आधिदैविक सत्य के क्षेत्र में शिव भी अलग हैं और विष्णु भी अलग हैं तथा राम का विष्णु से अभिन्नत्व रहते हुए भी विशिष्ट पार्थक्य है, जिसमें वे करोड़ों विष्णुओं से भी श्रेष्ठ हो जाते हैं। इस आधिदैविक क्षेत्र के राम सबके लिये अलग अलग राम हैं, अपने अपने राम हैं। वे सब के इष्ट न हो परन्तु उनमें क्षमता इतनी अवश्य है कि वे सब के इष्ट देव बन सकें। यों तो जिस व्यक्ति की जिस नाम अथवा रूप में प्रीति अथवा प्रतीति होगी उसका कार्य उसी नाम रूप के सहारे सम्पन्न होगा—

"प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहं ताको काज सरो"—

परन्तु भारत में प्रचलित जितने इष्ट देव थे उनमें राम ही का विशेषत्व गोस्वामीजी को सबसे अधिक जान पड़ा। "मेरे तो माइ बाप दुइ आखर, हौं सिसु अरनि अरो।"

"बलि पूजा चाहत नहीं, चाहत इक प्रीति ;
सुमिरत ही मानै भलो, पावन सब रीति।"

देवी के लिये बलि चाहिये, रूद्र के लिए पूजा चाहिये, कृष्ण

के लिए 'पावन सब रीति' कहना ज़रा कठिन ही है। अन्य इष्ट देवों के लिए 'सुमिरत ही मानै भलो' इस हद तक शायद ही कहा जा सके।

"प्रभु तरुतर कपि डार पर, ते किय आपु समान ;
तुलसी कतहुँ न राम सों, साहिब शील निधान।"
"सजल नयन गद्गद गिरा, गहवर तन पुलक शरीर,
गावत गुनगन राम के, केहि की न मिटी भवभीर।"

अतएव गोस्वामीजी ने साम्प्रदायिकता के नाते भी राम ही में महत्व देखा।

सभी दृष्टियों से गोस्वामीजी का उद्देश्य हो उठा कि भारतवर्ष में राम-भक्ति का प्रचार विशेष रूप से हो और राम ही अधिक से अधिक लोगों के इष्टदेव बन जायं। इसीमें उन्हें संगठन का प्रवल सूत्र दिखाई पड़ा। इसीमें उन्हें शुद्धि के सच्चे तत्व भी मिले।

"स्वपच सँवर खस जवन जड़, पांवर कोल किरात
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात।"

कहीं का कोई मनुष्य क्यों न हो, यवन भी क्यों न हो, "राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात।" फिर ब्राह्मण अब्राह्मण, अथवा हिन्दू अहिन्दू, का प्रश्न ही क्या !

धार्मिक क्षेत्र में उठी हुई गोस्वामीजी की इन्हीं भावनाओं के अनुसार उनके मानस में विराजमान रामकथा अपना रूप ढालने लगी। वह इन्हीं सब परिस्थितियों तथा उद्देश्यों के अनुरूप रूप लेकर बाहर निकल पड़ी।

"गुरु कह्यो राम भजन नीको, मोहि लगत राज डगरो सो।"

गुरु ने रामनाम का उपदेश और रामकथा की चर्चा गोस्वामीजी के व्यक्तिगत हित की दृष्टि से ही की थी परन्तु गोस्वामीजी ने अपने बुद्धि विवेक के बल पर उसे अखिल मानव जाति के कल्याण का राजमार्ग बना लिया। इसी राजमार्ग पर सभी प्रकार के मनुष्य आनन्द के साथ आगे बढ़ सकते हैं। न यहां संकीर्णता का नाम है, न संघर्ष की जरूरत है। इसके रहते ग्रन्थों और पंथों के विवाद में क्यों पड़ा जाय।

"बहुमत मुनि, बहुपंथ, पुराननि, जहां तहां झगरो सो;
गुरु कह्यो राम भजन नीको, मोंहि जगत राज डगरो सो।"

इसी राज डगर को स्पष्ट करने के लिए कथा में 'व्यास समास स्वमति अनुरूप' फेर फार किये गये। इसी डगर को स्पष्ट करने के लिए, केवल स्मृति (स्मरण शक्ति) का सहारा न लेकर, गोस्वामीजी ने बुद्धि, विवेक और प्रभु प्रेरणा के सहारे रामकथा कही है।

"जस कछु बुधि विवेक बल मोरे, तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे।"

राम-कथा के कथन की भावना ने गोस्वामीजी की अन्तर्दृष्टि साहित्य के क्षेत्र में भी फैलाई। स्व का कल्याण, मोक्ष का सम्पादन अथवा आत्मसाक्षात्कार, जो भी कहिये, उसके लिए जिस प्रकार ज्ञान-योग और कर्म-योग की चर्चा है उसी प्रकार भावयोग की भी चर्चा है। इस भावयोग के क्षेत्र में साहित्य का बहुत बड़ा मूल्य है। भावों का अनुभव तो सभी कोई कर सकता है परन्तु जो दूसरों को भी उन भावों का अनुभव करा सके उसीका नाम है कवि।

"अनुभव करता है सब कोई, करा सके जो कवि है सोई।"

जिस सन्त ने भावों की स्वतः अनुभूति की, और गूंगा सा गुड़ खाकर मौन बैठा रहा, उसे संसार ने अपने स्मृति पट से बाहर ही कर दिया है। जिस संत ने अपनी अनुभूति को वाणी में उतार दिया, चाहे अपने मन को प्रबोध देने के लिए हो चाहे जगत् के मन को प्रबोध देने के लिए, वही साहित्य का स्रष्टा बन गया और भावयोग के क्षेत्र में विश्वकल्याण का उन्नायक हो गया। संसार के कालसर्प पर मस्तक-मणि की तरह वही चिरकाल तक चमकता रहता है। यह अनुभूति जितनी ऊँची होगी और जितने अच्छे कलात्मक ढंग पर वाणी में उतारी जायगी, उतनी ही अधिक लोक प्रिय और प्रभावोत्पादक तथा उतनी ही अधिक व्यापकता और अमरता से युक्त होगी। गोस्वामीजी ने अनुभूति और चिन्तन, दोनों, में कमाल की कुशलता पाई थी। उनकी कल्पना भी बहुत उर्वर थी और अध्ययन भी अगाध था। साथ ही अन्य कई छोटे मोटे ग्रंथ लिखकर उन्होंने अभ्यास की निपुणता भी खूब प्राप्त कर ली थी। अतः उनकी राम कथा एक ऐसी कला की लपेट में प्रकट हुई जिसके विषय में हरिऔध जी ने ठीक ही कहा है कि—

"कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।"

भारतीय वाङ्मय में संस्कृत, प्राकृत और भाषा के अनेकानेक ग्रन्थ थे। इनमें भी धार्मिक साहित्य अलग और ललित साहित्य अलग। धार्मिक-साहित्य में प्रथम श्रेणी थी 'आगम निगम पुराण' की। भारतीय संस्कृति को क्रिया-पद्धति की देन विशेपतः आगम ग्रन्थों से, विचार-पद्धति की देन विशेषतः निगम ग्रन्थों से, और

भाव-पद्धति की देन विशेषतः पुराण ग्रन्थों से मिली थी। अनुभूति के क्षेत्र थे आगम ग्रंथ, चिन्तन के क्षेत्र थे निगम ग्रंथ और कल्पना के क्षेत्र थे पुराण ग्रंथ। गोस्वामी जी के कवि-हृदय को तीनों की आवश्यकता थी। अतः स्वभावतः उनकी कथा "नाना पुराण निगमागम सम्मत" होकर निकली। भारतीय परम्परा अथवा भारतीयता का रूप क्या है यदि यह बात संसार के सामने रखनी है तो उस बात को "नाना पुराण निगमागम सम्मत" बनना ही पड़ेगा।

धार्मिक और ललित साहित्य का मध्यवर्ती था इतिहास साहित्य, जिसमें प्रमुखता है वाल्मीकि कृत रामायण की और व्यास कृत महाभारत की। भारत के दो महापुरुषों को लेकर इन दो महाग्रंथों की रचनाएँ हुई। इन दोनों कुशल महाकवियों ने दोनों महापुरुषों का जीवन और दोनों का चरित्र इस खूबी से स्पष्ट किया कि समग्र भारत, और भारत ही क्यों उसके आस-पास का अन्य देश-समुदाय भी, मुग्ध हो उठा राम और कृष्ण का नाम घर-घर गूंज उठा। महर्षि वेदव्यास पंचम वेद रूप भारत अथवा महाभारत लिखकर ही नहीं रह गये पर उन्होंने पुराणों की भी परम्परा चलाई जिसमें श्रीमद्भागवत पुराण सिरमौर समझा जाता है। भागवतकार का कथन है :—

> "निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृत द्रव संयुतं
> पिबत भागवतं रसमालयं, मुहुरहो रसिकाभुवि भावुकाः।"
> वेदों का मधुर सार उसमें, भावुकों का कण्ठहार वह,
> लय पर्यन्त पीने योग्य अमृत रस उसमें ओतप्रोत।

श्रीकृष्ण के चरित्र का माधुर्य इस भागवत पुराण में इतना खिला कि लोग महाभारत के कृष्ण को भूल सा गये। लोकरंजन के लिये रामचरित्र देखा जाने लगा और भक्त रंजन के लिये कृष्ण चरित्र। संत सज्जनों ने दोनों में समान आनन्द माना और कहने लगे जो राम वही कृष्ण। फिर भी भावुक लोग कृष्ण भक्ति में विशेष बह चले और संस्कृत, प्राकृत तथा भाषा के अनेकानेक ग्रंथ, चाहे वे धार्मिक साहित्य के हों अथवा ललित साहित्य के हों, श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण-भक्ति को केन्द्र मानकर लिखे जाने लगे। इन सब में प्रायः उन्हीं श्रीकृष्ण का ध्यान किया गया जो मुरलीधर थे, रासेश्वर थे, नटनागर थे, राधावल्लभ थे, गोपीवल्लभ थे, वृन्दावन-विहारी थे। गीता के उद्घोषक कृष्ण का, अर्जुन के रथ के प्रग्रहधारी कृष्ण का, महाभारत के सूत्रधार कृष्ण का, द्वारका के व्यवस्थापक कृष्ण का ध्यान प्रायः भुला सा दिया गया। पुराणोक्त भगवान् श्रीकृष्ण के ललित-विग्रह के ध्यान में लोक मर्यादा का स्थान कहां रह सकता था। उसमें तो मर्यादापूर्ण दास्यभाव का नहीं किन्तु सख्य भाव, वात्सल्य भाव और दाम्पत्य भाव का—नहीं नहीं, इससे भी परे, परकीयाभाव और सखीभाव के माधुर्य का बोलबाला था। इसी लिये तो बेखटके पीछे के कवियों द्वारा भी कहा गया :—

"कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि कलंकनि कुनारी हौं।
तैसो नरलोक वह लोक परलोकनि में,
कीन्हीं हौं अलीक ; लोक लोकन ते न्यारी हौं।

तन जाउ मन जाउ "देव" गुरुजन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेकु हरत न हारी हौं।
वृन्दावन वारी बनबारी के मुकुट वारी,
पीतपट वारी वाहि मूरति पै वारी हौं।"

तन्मयता का बड़ा सुन्दर निदर्शन है। भावयोग के लिये और चाहिये ही क्या। परन्तु जगद् व्यवस्था में व्यक्ति स्वातंत्र्य ही सब कुछ नहीं रहा करता। जगद् व्यवस्था के लिये नियम-धर्म आवश्यक हैं। और नियम-धर्म के लिये मर्यादा आवश्यक है। अतएव यदि आराध्य के केवल लीलावतार की ही चर्चा की जाय और धर्मावतार की चर्चा न हो, तो समाज में आदर्श-भ्रष्टता छा जाने का डर रहता है। विज्ञों ने जब देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण भावुक भक्तों के हाथ पड़कर अपना महाभारतीय मर्यादा-पुरुषोत्तमत्व खो बैठे हैं, तब उन्हें कहना पड़ा कि हम उनका अनुकरण न करें किन्तु उनके गीतोक्त उपदेश को मानकर ही आगे बढ़ें। "न देव चरितं चरेत् तदुक्तं कर्म वाचरेत्"। किन्तु कथनी करनी का यह अन्तर दिखाकर जन-समाज को उस साँचे पर आगे बढ़ाना कहां तक श्रेयस्कर हो सकता था?

महर्षि बाल्मीकि ने किसी पुराण की परम्परा नहीं चलाई। उन्होंने राम का मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप ही विशेष प्रस्फुटित किया। परन्तु फिर भी उनकी रामायण का प्रभाव संस्कृत, प्राकृत और भाषा में, तथा धार्मिक साहित्य और ललित साहित्य के क्षेत्रों में, कुछ कम नहीं पड़ा। अनेकानेक ग्रन्थ उनके अनुकरण में लिखे गये। अनेकानेक ढंग पर दी हुई रामकथा का विस्तार प्रस्तार हुआ। रामायण "शतकोटि प्रविस्तर" हो गई।

"नाना भांति राम अवतारा, रामायण शतकोटि अपारा।"

धीरे-धीरे कृष्ण-भक्ति के अनुकरण पर राम-भक्ति का भी रूप प्रस्फुटित हुआ। आगे चलकर, उसमें भी माधुरी भरी जाने लगी और अब भारतीय वाङ्मय में ऐसे ग्रन्थों की कमी नहीं जिनमें सीता और राम का रास-विलास दिखाने में राधा और कृष्ण का रास-विलास भी मात कर दिया गया है। राम का शृङ्गारिक रूप अमर्यादित भाव से प्रदर्शित करने की चेष्टा भी की गई और उनकी उपासना में सखी-सम्प्रदाय तक चल पड़े जिसमें पुरुष भी स्त्रियों का सा रूप रखकर वैसी ही चेष्टायें करते देखे जा सकते हैं। फिर भी रामचरित्र अथवा रामभक्ति के प्रकरण में श्रीमद्भागवत के समान कोई भी ग्रन्थ बन न पाया जो उन्हें मर्यादा-पुरुषोत्तमता की पदवी से हटा कर लीलावतारी ही की कोटि में रख देता। भावुकों की हज़ार हज़ार चेष्टाएं करने पर भी राम का लोक-रञ्जक रूप दब न सका। इन चेष्टाओं से उनका भक्त-रञ्जक रूप अलबत्ता कुछ अधिक स्पष्ट हो गया।

इतिहास साहित्य के प्रभाव से इस भारत में जिस भी धार्मिक तथा ललित साहित्य की सृष्टि हुई उसमें, लोककल्याण की दृष्टि से, गोस्वामीजी के मन में रामकथा परम्परा का साहित्य ही विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस साहित्य में भी केवल वही अङ्ग ग्राह्य हुआ जो "रामादिवद् वर्तितव्यं नतु रावणादिवत्" ('राम के समान आचरण करो न कि रावण के समान') का संदेश दे सके तथा राम के प्रति धर्ममर्यादा पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न करा सके। रामकथा तो दी महर्षि वाल्मीकि ने, परन्तु उसके श्रद्धाविवर्धक रूप

का प्रस्फुटन किया, सम्वाद रूप से, पौराणिकों और भक्त लेखकों ने। अतएव गोस्वामीजी के मन में ऐसे सम्वादों ने ही विशेष आकर्षण उत्पन्न किया। सम्वाद ही तो प्रचार का सुन्दर साधन माना गया है। खण्डन मण्डन का बवण्डर न उठाकर, शास्त्रार्थ के लिए इधर उधर ताल ठोंकते हुए न फिरकर, कुशासन अथवा कुव्यवस्था के विरुद्ध हिंसात्मक मोर्चा न लेकर, पुराण-पण्डितों ने सर्वसाधारण को संगठित करने और कर्तव्यपथ के लिये जाग्रत करने का जो यह सम्वाद रूपी सुन्दर ढङ्ग निकाला था, उससे प्रौढ़शिक्षण का काम, यहां कई अवसरों पर, बहुत सफलता पूर्वक चल चुका है। पुराण-प्रवचन-परिपाटी में कथाओं के द्वारा सुन्दर सुन्दर कल्याणमय तत्व जिस खूबी से हृदयंगम कराये जा सकते हैं, वह कीर्तन और प्रवचन-प्रेमियों से छिपा नहीं है। गोस्वामीजी के समान विचक्षण भावुक विद्वान् को, संवाद-शैली का महत्व, पूर्ण रूप से विदित था। अतएव संवाद-रूप से आई हुई राम-कथा के क्रम को ही उन्होंने विशेष महत्व दिया। उस क्रम में भी तीन सम्वाद उन्होंने विशेष उल्लेखनीय माने। वस्तुलोक के प्रतीक बनाये गये याज्ञवल्क्य और भरद्वाज। आधिभौतिक दृष्टिकोण से रामकथा का विस्तार इनके द्वारा कराया गया। कल्पनालोक के प्रतीक बनाये गये काकभुशुंडि और गरुड़। आधिदैविक दृष्टिकोण से रामकथा का विस्तार इनके द्वारा कराया गया। तत्वलोक के प्रतीक बनाये गये शिव और शक्ति। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से रामकथा का विस्तार इनके द्वारा कराया गया। तीनों दृष्टिकोणों को एक में मिलाकर कहा गोस्वामीजी ने, और

सुना सहृदय सज्जनों ने। सम्वादात्मक मानस का यह चौथा घाट हुआ। शिव और पार्वती (शक्ति) की सम्वादात्मक रामकथा आध्यात्म रामायण के रूप में अब तक उपलब्ध है। स्वभावतः ही गोस्वामीजी की राम-कथा इस ग्रन्थ का विशेष आधार लेकर चली है। भुशुंडि और याज्ञवल्क्य के नाम उपनिषदों में हैं। किन्तु उनकी रामायणें अब उपलब्ध नहीं। उन्हें ढूंढ़ने की इतनी आवश्यकता भी तो नहीं है क्योंकि गोस्वामीजी ने "बुद्धि से विचार" कर, (न कि ग्रन्थों के आधारपर), इन सम्वादों की अवतारणा की है।

"सुठि सुन्दर संवाद वर, विरचे बुद्धि विचारि।
तेइ येहि मानस सुभग सर, घाट मनोहर चारि।"

मूल कथा ली गई वाल्मीकीय रामायण से, सम्वाद तथा विवेचन की शैली ली गई भक्तिपरक आध्यात्म रामायण से, भावप्रवणता और आकर्षण के लिए मसाले लिए गये धार्मिक एवं ललित साहित्य के अन्य उपयुक्त ग्रन्थों से। इसीलिए गोस्वामीजी का कवि "नाना पुराणनिगमागम सम्मतं यत्" के बाद ही कह उठा "रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।" व्यासदेव के महाभारत के विषय में विद्वानों ने कहा "यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।" (जो यहां नहीं है वह अन्यत्र कहीं नहीं है।) भागवत का क्रम चलाकर मानों स्वतः व्यासजी ही सिद्ध कर गये हैं कि माधुर्य के लिए महाभारत के अतिरिक्त कुछ अन्यत्र भी (क्वचिदन्यतोऽपि) टटोला जाय। गोस्वामीजी के मानस में रामायण और महाभारत की प्रभाविष्णुता के साथ ही साथ भागवत की भावप्रवणता भी पूरी

मात्रा में आ विराजी। अतएव उनका "क्वचिदन्यतोऽपि" मानों महाभारत-प्रेमियों को संकेत कर उठा कि "ज़रा इधर आकर इस मानस की भी सैर कर ली जाय।"

ललित साहित्य में नायकों की कमी नहीं। परन्तु नायक यदि उदात्त रहा तो 'भदेस भणिति' भी संग्राह्य हो जाती है। और, नायक यदि सामान्य ही रहा—'प्राकृत'—ही रहा, तो 'सुकवि-कृत विचित्र भणिति' भी अशोभनीय हो जाती है। प्राकृत नरेशों की चाटुकारी में काव्य-कौशल दिखाना सरस्वती का अपमान करना है।

"भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ, रामनाम बिनु सोह न सोऊ।

× × × ×

भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी, राम कथा जग मंगल करनी।

× × × ×

कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।"

साहित्य के सच्चे पारखी होकर गोस्वामी जी ने काव्य का एक मान-दण्ड भी अपने मन में निर्धारित कर ही लिया था। उनके मत में सत्काव्य वह था जिसको विद्वान आदर दें :—

(जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं, सो स्रमबादि बाल कवि करहीं।")

सत्काव्य वह था जो बुधों ही को सब प्रकार का लोकोत्तर आनन्द देकर न रह जाय किन्तु सर्वसाधारण का भी हृदय-रञ्जन कर दे ("बुध-बिस्राम सकल-जन रंजनि")। सत्काव्य वह था जिसमें सबका हित निहित हो :—

"कीरति भणिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई।"

यह सत्काव्य तभी सफल कहा जा सकता था जब उसका नायक उदात्त हो, अर्थात् वह उदात्तता प्रस्फुटित करे। इसीलिए

"कवि कोविद अस हृदय विचारी, गावहिं हरि जस कलिमल हारी।"

इसीलिये नायक चुनना चाहिये तो राम ही सा। अनेक कवियों ने यही किया और गोस्वामी जी ने भी वही किया। ऐसे उदात्त नायक को लेकर प्रभु-चर्चाका विस्तार करना, जिससे भक्ति का माधुर्य सर्व साधारण को मिल सके, संतों का कार्य होना चाहिये। इसी में उनके ज्ञान की सार्थकता है। ब्रह्म तो अनादि अनन्त हैं। सभी नाम रूप उसके नाम रूप हैं और सभी लीलाएँ उसकी लीलाएँ हैं।

"हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता, कहहिं सुनहि बहु बिधि सब संता।"

ब्रह्म के चिंतन में वह माधुर्य नहीं जो उसके नाम रूप और लीलाओं के चिंतन में है। इसीलिये संत लोग, अपने ज्ञान के बल पर, ऐसे कथामृत की उद्भावना कर दिया करते हैं जिससे 'सब का हित' अनायास सध जाय।

"ब्रह्म पयोनिधि, मंदर ज्ञान, संत सुर आहि।
कथा-सुधा मथि काढ़इ, भगति मधुरता जाहि।"

राम के इसी श्रद्धाविवर्द्धक रूप को गोस्वामी जी ने अपने-मानस की राम कथा में देखा और इसी रूप को अपनी कविता रूपी सरयू द्वारा उन्होंने 'स्वान्तः सुखाय' (अथवा यों कहिये कि 'जगद्‌हिताय') प्रवाहित किया।

तुलसी ने जिस रघुनाथ-गाथा को स्वान्तःसुखाय प्रवाहित किया उसे उन्होंने 'भाषा निबंध' के रूप में रखा। लोक उन्नयन

के लिये लोक-भाषा ही में संवाद का प्रचार अभीष्ट था। संस्कृत उस समय की लोक-भाषा न थी। प्राकृत भी उस समय की लोक भाषा न थी। सधुक्कड़ी हिन्दी अवश्य लोकभाषा का रूप ले रही थी परन्तु विद्वज्जनों के हृदयों को आकृष्ट करने की क्षमता उसमें आ नहीं पाई थी। ब्रजभाषा उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा थी जरूर, परन्तु उसपर श्रीकृष्ण के लीला-विलास की छाप ज़रूरत से ज्यादा पड़ चुकी थी। प्रबंध काव्य राजस्थानी में लिखे जा चुके थे परन्तु वह स्वभावतः कर्कश भाषा थी। अवधी का खास सम्बन्ध था अवध से, और इस प्रकार भगवान् राम से। उसमें जायसी का काव्य-गुण-सम्पन्न प्रबन्ध-काव्य पहले ही लिखा जा चुका था जिसके कारण वह हिन्दू और मुसलमान तथा मूर्ख और विद्वान् सभी के क्षेत्रों में प्रवेश पा चुकी थी। उसका व्याकरण भी उत्तर भारत की अन्य भाषाओं से बहुत भिन्न न था। अतः गोस्वामी जी ने लोक-भाषा के रूप में उसे ही चुना और संस्कृत प्राकृत तथा विभिन्न प्रांतों के देशज शब्दों से उसे सजा कर यथार्थ ही लोक-भाषा का रूप दे दिया। जितने अधिक शब्दों का सफल प्रयोग उन्होंने किया है उतने शब्द हिन्दी के किसी अन्य कवि की रचना में नहीं पाये जाते। अवधी को उन्होंने लोक-भाषा बना कर लिखा इसीलिये तो उसे केवल 'भाषा' कहा।

"भाषा बद्ध करब मैं सोई, मोरे मन प्रबोध जेहि होई।"

"भाषा भणिति मोरि मति थोरी।"

प्राचीन काल की राष्ट्र-भाषा थी संस्कृत, गोस्वामी जी के समय

की देश-भाषा हुई यह "भाषा" नामधारिणी बोली। कवियों ने दोनों का दर्ज़ा बराबरी का माना।

"का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच।"

विद्वज्जनों को भी इस 'भाषा' के सामने आगे चलकर नत-मस्तक हो जाना पड़ा।

यों तो हिन्द की सभी भाषाएं "हिन्दी" (हिन्द की) हैं, परन्तु 'हिन्दी' नाम से आजकल जिस भाषा का बोध होता है उसका मूलरूप है मेरठ के आसपास की खरी बोली अथवा खड़ी बोली। सधुक्कड़ी भाषा को इसी खरी बोली का एक रूप समझना चाहिये। परंतु उत्तर भारत की अन्य देशज भाषाएँ भी परस्पर इतनी अधिक सहयोगिनी रही हैं कि प्रायः प्रत्येक उत्तर-भारतीय ने, राम काव्य के लिये अवधी को कृष्ण-काव्य के लिये ब्रजभाषा को और बोलचाल के लिये खड़ी बोली को, बिना किसी झिझक के अपनाया है ; चाहे वह राजस्थान का हो, चाहे वह पंजाब का हो, चाहे बुन्देलखण्ड का हो, चाहे छत्तीसगढ़ का हो, और, चाहे काशी या बिहार का हो। बंगाल और गुजरात तक के प्राचीन साहित्य ग्रन्थों में ब्रज, अवधी तथा खड़ी बोली का प्रभाव भरपूर दीख पड़ सकता है। अतः 'हिन्दी' का अर्थ होता रहा है वह भाषा जिसके उपरूपों को राजस्थानी भापा, ब्रजभाषा अथवा अवधी भाषा कहा जा सकता है। अब तो हिन्दी उत्तर-भारत की नहीं किन्तु समूचे भारत की राष्ट्रभाषा है। अतएव इसमें अब दक्षिणी प्रान्तों के देशज शब्द ही नहीं किन्तु उन प्रांतों के देशज प्रयोग (मुहाविरे आदि) भी समेटे जावेंगे। गोस्वामीजी

के मन में भी लोक-भाषा के सम्बन्ध में ऐसी ही कुछ धारणा थी। इसीलिए उनके रामकथा-काव्य में हम न केवल विपुल शब्दावली ही पाते हैं किन्तु विपुल प्रयोगावली के भी दर्शन हम उसमें स्थल-स्थल पर कर सकते हैं।

गोस्वामी जी के समय देश-भाषा में चन्द, सूर, कबीर और जायसी की रचनाएँ प्रसिद्ध हो चुकी थीं। चंद की वीर-गाथा-पद्धति संग्राह्य थी परन्तु उसमें आध्यात्मिकता का पता न था। सूर की भाव-प्रवण काव्य-पद्धति अवश्य थी परंतु उसमें लोक-उत्कर्षकारी प्रबन्धात्मकता का अभाव था। कबीर में लोक-भाषा और तत्वानुभूति अवश्य थी परंतु कथारस का सर्वथा लोप था। जायसी में सब कुछ था परन्तु वेदानुकूलता न थी। गोस्वामी जी ने इन चारों के उत्तमोत्तम तत्व चुन कर अपनी रामकथा को, काव्य के इस समन्वय पूर्ण सांचे में ढाल दिया। यही नहीं, उन्होंने सूक्तिकारों की दोहा पद्धति, रीतिकारों की कवित्त सवैया-पद्धति, गीतकारों की गोपद पद्धति आदि भी प्रेम से अपनाई परंतु मानस की प्रबन्धात्मकता के लिये अवधी के ही प्रबन्धकार जायसी का दोहा-चौपाई वाला क्रम विशेष रूप से स्वीकृत किया।

गोस्वामी जी ने अपने भाषा-निबंध को "अति मंजुल" बना कर लिखा यह भी वे स्वीकार कर रहे हैं। "भाषा निबन्ध मति मंजुल मातनोति"। काव्य में 'अतिमंजुलता' लाना रस सिद्ध कवीश्वरों के ही बूते की बात रहा करती है। इसके लिए कवि में शक्ति भी हो (अर्थात् अनुभूति, चिन्तन और कल्पना से भरी नैसर्गिक प्रतिभा भी हो) निपुणता भी हो (रचना-कौशल का

अच्छा अभ्यास हो) तथा काव्य शास्त्रादि का पर्यवेक्षण भी हो (विस्तृत अध्ययन और मनन भी हो) और इन सबके अतिरिक्त प्रभु की कृपा और प्रभु की प्रेरणा हो, तभी उसकी रचना में "अतिमंजुलता" आ सकती है। गोस्वामी जी ने अपनी नम्रता के कारण यह अवश्य कहा कि वे न विज्ञ हैं और न कवि हैं परन्तु उनकी इस नम्रता ने मानस के अमृतोपम जल का भारीपन मिटा कर (या यों कहिये कि हलकापन बढ़ा कर) उसके गुण का ही उत्कर्ष किया है। देखिये उन्हीं का लिखा सरसरि रूपक ? वस्तुतः वे संत सत्कवि तो थे ही अतः एक से अधिक स्थान पर वे स्वीकार कर लेते हैं कि उनकी रचना न केवल "सुभग कविता" ही है वरं "शंभु प्रसाद" और "हरिप्रेरे" से हृदय में हुलसी है। भावावेश में तो वे यहां तक कह गये हैं कि :—

"जिन्ह एहि वारि न मानस धोये, ते कायर कलिकाल विगोये।"

राजनैतिक आन्दोलन से धार्मिक आन्दोलन प्रबल होता है और कोरे आन्दोलन की अपेक्षा शान्तिपूर्ण क्रियात्मकता अधिक प्रभावशालिनी रहा करती है। क्रियात्मकता यदि संवादात्मक ढंग पर, प्रवचनों, गायनों और अभिनयों के द्वारा, प्रचारित की जाय, तथा उसे खण्डन मण्डन के विरोधोत्पादक वातावरण से दूर रखकर चलाया जाय, तो वह शीघ्र ही सर्वसाधारण का हृदय अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है और लोगों के विचारों और भावों में आप ही आप एक सुखद क्रान्ति जगा देती है। विचारों और भावों में क्रान्ति आई कि क्रिया में क्रान्ति हो उठना कोई दूर की बात नहीं रह जाती। रावण-राज्य से संत्रस्त जन-समुदाय को राम-राज्य के

सुख शान्तिमय क्षेत्र की ओर सक्रिय रूप से प्रवृत्त कराने के लिये इससे उत्तम, तथा साथ ही निरापद, और कौन मार्ग हो सकता था। वेदपथ (अथवा साधना मार्ग) भी इससे सध गया, और लोकपथ (राजनीति का व्यवहार मार्ग) भी इससे सध गया।

अस मानस मानस चखि चाही
भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही।
चली सुभग कविता सरिता सी
राम विमल जस जल भरिता सी।
सरयू नाम सुमङ्गल मूला
लोक वेद मत मंजुल कूला।"

गोस्वामीजी का काव्य-कौशल गोस्वामीजी के ही बल बूते की बात थी। गोस्वामीजी जितने ऊँचे तत्व-चिन्तक और साधक थे उतने ऊंचे कवि भी थे। स्वर्गीय बड़थ्वालजी ने ठीक ही कहा था कि "मनः प्रवृत्ति के क्षेत्र में जो उपासना है, अभिव्यञ्जना के क्षेत्र में वही साहित्य हो जाता है।" गोस्वामीजी की सी कोटि का रामभक्त ही गोस्वामीजी की सी कोटि की रामकथा दे सकता था। परम नम्र परन्तु साथ ही परम निष्पक्ष आलोचक ने इसीलिए अपनी रचना पर "अतिमंजुलता" की छाप मारकर कह भी तो दिया कि :—

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषा निबन्ध मति मंजुल मातनोति

तृतीय परिच्छेद

मानस में रामकथा का विहंगावलोकन

"मानस" में जितनी गहराई है उतनी ऊँची उठान से गोस्वामी तुलसीदासजी ने उसकी भूमिका बाँधी है। उसके उपक्रम और उपसंहार दोनों ही विशद हैं। उपक्रम सती मोह को लेकर चला है और उपसंहार गरुड़ मोह को लेकर।

निर्गुण रूप सुलभ अति सगुन जान नहि कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ॥

भगवान राम के उस सगुण साकार नरावतार रूप की सर्व ज्ञानसत्ता और सर्वशक्तिमत्ता पर किन किनने शंकाएँ नहीं कीं? स्वतः महामाया ने उनके सर्वज्ञत्व पर शंका की। "खोजत सो कि अज्ञ इव नारी?" उपक्रम बताता है कि उन्हें इसका कितना बड़ा

फल मिला। स्वतः विष्णुवाहन गरुड़ देव ने उनके सर्वशक्तिमत्व पर शंका की। "नाग पाश वस भयेउ खरारी।" यह क्या? उपसंहार बताता है कि उन्हें इसका कितना कड़ा फल मिला। जगह जगह की ठोकरें खाकर अन्त में उन खग-नायक को खगाधम शकुनाधम—कौवे के सामने सिर झुकाना पड़ा। उपक्रम में राम की सर्वज्ञता और परब्रह्मता के सम्बन्ध में शंकरजी का प्रत्यक्ष साक्ष्य और उपसंहार में राम की सर्वशक्तिमत्ता और परब्रह्मता के सम्बन्ध में काकभुशुण्डिजी का प्रत्यक्ष साक्ष्य दर्शनीय है। दोनों ही बालक रूप राम के ध्यानी हैं। दोनों ही ज्ञान के आचार्य होकर भक्ति को प्रतिपाद्य बता रहे और उसका उत्तम विवेचन कर रहे हैं। राम-कथा में निहित जो तत्व-सिद्धान्त है उसका उपक्रम और उपसंहार इससे उत्तम और क्या होगा?

उपक्रम के पहिले गोस्वामीजी के भक्ति प्रवण हृदय और कवि कौशल ने अनेक प्रकार की वन्दनाओं का क्रम बांधा तथा अनेक आवश्यक ज्ञातव्य बातों की ओर संकेत किया है।

वाणी विनायक, भवानीशंकर, कवीश्वर, कपीश्वर और सीता-राम की वंदना के बाद गणेश, विष्णु, शिव और गुरु की वंदना है। फिर ब्राह्मणों और वैष्णवों की वंदना है (जिनका सत्संग विधेय है), फिर खलों की भी वंदना है (जिनका संग त्याज्य है)। इस प्रसंग में गोस्वामीजी ने भिन्न-भिन्न प्रकार के खलों की चर्चा कर दी है। कुछ काल, कर्म, स्वभाव की विवशता से खल हो गये हैं; कुछ सत्संग पाकर सुधर भी जाते हैं, सुवेशधारी खल अन्त में उघर जाते हैं।

कुछ केवल दिखाव में ही खल जान पड़ते हैं परन्तु रहते हैं हनुमान आदि के समान सज्जन ही। परन्तु सब प्रकार के खल भी तो आखिर 'विधि उपजाये' और राममय ही हैं, इस दृष्टि से वे भी वंदनीय ही हैं।

फिर देव, दनुज, नर, नाग, खग, प्रेत, पितर, गंधर्व, किन्नर, रजनिचर वन्दना है। फिर चौरासी लाख योनि के जीवों की वंदना है।

हर किसी से यह विनय क्यों की गई? इसलिए कि मानस प्रणयन के इस गुरुतम कार्य के लिए :—

"निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं
तातें विनय करहुँ सब पाहीं॥"

गोस्वामीजी ने कहा, जिस प्रबंध को बुध लोग आदर न दें वह व्यर्थ है। जिस भणिति में सबका हित न हो वह किस काम की? वही तो रचना है जिसकी प्रशंसा सहज बैरी भी कर उठे।

"हृदय सिंधु मति सीप समाना,
स्वाती सारद कहहिं छजाना।
जौं बरसइ बर वारि विचारू,
होंहि कवित मुकतामनि चारू।
जुगुति बेधि पुनि पोहि यहि रामचरित बर ताग,
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग।"

इस ऊँचे मानदण्ड के आगे कवि की कितनी ओछी मति! उसकी रचना में काव्य विवेक हो ही क्या सकता है। परन्तु हाँ इसमें विश्व-विदित एक गुण अवश्य आ गया है और वह है

रघुपतिका उदार नाम। अतएव यह रचना खलों के लिए परिहास, रसिकों के लिए हास्य रस और अकुतर्की भक्तों के लिए मधुरस की सामग्री देगी। रामनाम बहुत गाया जा चुका है परन्तु फिर भी लोग उसे गाए ही जा रहे हैं—उस पर रचनाएं करते ही जा रहे हैं। भजन के प्रभाव के लिए यह पिष्टपेषण ठीक ही है। इसी प्रभाव के लिए एक ही बात अनेक भांति से भी कही जाती है। प्राचीन विद्वानों (मुनियों) ने हरि की कीर्ति गा-गाकर गाथा के ऐसे सुदृढ़ पुल बना दिये हैं कि आजकल की चीटियों के लिए भी उस पथ पर चल लेना सुगम हो गया है। (इसीलिए गोस्वामीजी का कवि भी इस सुगमता से उस पथ पर चलने का साहस कर रहा है)।

अब राम काव्य के सब कवियों को प्रणाम करने की बारी आती है। इसी प्रसंग में वाल्मीकि, वेद, ब्रह्मा, विबुध विप्र, बुध ग्रह, सारद सुर सरिता; महेश भवानी, अवधपुरी पुर नर नारि; कौसल्या दशरथ (अन्य रानियों सहित) तथा परिजन सहित विदेह राज, भरत लक्ष्मण रिपुसूदन, महावीरजी तथा कीस समाज; रघु-पति चरण उपासक (खग मृग सुर नर असुर आदि) तथा 'सुक सनकादि भक्त मुनि नारद' फिर श्री जानकी जी तथा श्रीरघुनायक रामचन्द्रजी की वंदना है। रामजी की वंदना के बाद रामनाम की वंदना है। इस सम्बन्ध में नाम-महात्म्य की बड़ी सुन्दर चर्चा बन पड़ी है। राम से भी बड़ा रामजी का नाम ठहराया गया है। तत्पश्चात् पुनः राम को प्रणाम किया गया है और उनकी साहिबी (स्वामित्व) तथा उनके शील निधानत्व पर विशेष ज़ोर दिया गया है।

ऐसी विशद वंदना करके गोस्वामीजी कहते हैं :—

"इहि विधि निज गुन दोष कहि, सबहि बहुरि सिर नाइ···
बरनहुँ रघुबर विसद जस'..सोक मोह भ्रम जाइ।"

गोस्वामीजी ने बालकपन ही में रामकथा अपने गुरु मुख से सुनी थी इसलिए उसके संस्कार बचपन से ही उनमें पड़ चुके थे। परन्तु, उनकी प्रखर प्रतिभा और उत्कृष्ट भावुकता के कारण उस रामकथा में "व्यास समास स्वमति अनुरूप" रूपान्तर होते चले गये और गोस्वामीजी की "मति अनुसार समझ" के लिए गुरु को वह कथा बार-बार कहनी पड़ी। गोस्वामीजी ने कलि कलुष विभञ्जिनी रामकथा का बड़ा माहात्म्य पाया। उन्होंने रामकथा, रामचरित और रामगुणग्राम का बड़ा माहात्म्य वर्णन किया है। भावुक भक्त लोग इन माहात्म्य वाली पंक्तियों से सम्पुटित करके मानस का पाठ करते और श्रद्धानुसार 'मन कामना' सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। गोस्वामीजी ने देखा यह परम आकर्षण और परम माहात्म्य वाली रामकथा अनेक लोगों ने अनेक प्रकार से कही है। इसलिए उसमें अनेक प्रकार के वर्णन-भेद भी हो गये हैं। इस अनेकता में सामंजस्य स्थापित करने के लिए उन्होंने कल्प-भेद वाले सिद्धान्त को मान्यता दी। वेदों का कथन है कि प्रति कल्प में सृष्टि का क्रम यथापूर्व होता रहता है। "यथापूर्वमकल्पयत्।" तब हरएक कल्प में राम भी हुए और उनकी लीलाएँ भी हुईं। कल्पभेद के अनुसार लीला का भेद भी स्वाभाविक हो जाता है। मोटी-मोटी बातों में वे ही लीलाएँ हरएक कल्प में हुईं परन्तु छोटी-छोटी बातों में अन्तर आता चला गया। इसलिए गोस्वामीजी ने भी कथा-

वर्णन में कोई नई बात, कोई अपूर्व बात—कोई ऐसी बात जो पहिले की कथाओं में न कही गई हो—कह दी तो किसी को आश्चर्य न करना चाहिए वरन, यह समझ लेना चाहिए कि ऐसा वृत्तान्त भी किसी कल्प के रामावतार में घटित हो गया होगा। परस्पर-विरोधी घटना-क्रम के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार सोच लिया जाय। अपनी कथा की अपूर्वता के विषय में यह था गोस्वामीजी का स्पष्टीकरण।

रामकथा के अनेक वक्ता श्रोताओं में से गोस्वामीजी ने अपने पूर्ववर्ती तीन वक्ता श्रोता विशेष रूप से चुने। उन्हीं के कथा-प्रवाह को अपने मन रूपी मानसरोवर में उन्होंने विशेष रूप से संचित किया है। प्रथम वक्ता श्रोता हैं शंकर पार्वती। ज्ञानमार्ग तथा आध्यात्म जगत् की वस्तु इन्होंने स्पष्ट की है। आध्यात्म रामायण इसी संवाद का आधार है। द्वितीय वक्ता श्रोता हैं शंकर भुशुंडि-गरुड़ अथवा यों कहिये कि शंकर-लोमश-भुशुंडि-गरुड़। भक्तिमार्ग तथा अधिदैव जगत् की वस्तु इन्होंने स्पष्ट की है। कथा के आदि उद्‌गम वही शंकरजी हैं परन्तु भक्तराज भुशुंडि के सम्पर्क से वह कथा भावुकता-पूर्ण अधिदैव जगत् की वस्तु बन गई है। उसमें इतना रस आ गया कि मराल बनकर स्वतः शंकरजी भी वह कथा चाव से सुनते रहे और पार्वतीजी को भी सुनाते रहे। भुशुंडि रामायण इस समय लुप्त प्राय है परन्तु उसका अस्तित्व सुना जाता है और संभव है कि गोस्वामीजी के समय वह उपलब्ध रही हो। तृतीय वक्ता श्रोता हैं शंकर-भुशुंडि-याज्ञवल्क्य-भरद्वाज।

"तेहि सन जागवलिक पुनि पावा।"

अधिभूत जगत् की वस्तु इन्होंने स्पष्ट की है। राम का नरावतार अपने आदर्श चरितों से किस प्रकार लोक उन्नायक हुआ है यह बताना इस संवाद की विशेषता है। यही संवाद गोस्वामीजी ने विशेष रूप से बखाना है।

"जागबलिक जो कथा सोहाई, भरद्वाज मुनि वरहिं सुनाई
कहिहउ सोइ संवाद बखानी, सुनहु सकल सज्जन सुखमानी।"

परम्परा प्राप्त यही संवाद गोस्वामीजी ने फिर अपने गुरुसे सुना। "मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।" अतः गोस्वामी और सुजनों के रूप में जो चौथी संवाद परंपरा है उसमें उसमें प्रधानता रामकथा के आधिभौतिक रूप की है—लोक उन्नायक रूप की है—यद्यपि देश काल की आवश्यकतानुसार उसमें स्थल स्थल पर आध्यात्मिक और आधिदैविक रूप की झांकियां दिखाते चलना भी गोस्वामीजी को अभीष्ट जान पड़ा है।

इतना कहकर गोस्वामीजी फिर सबकी करबद्ध प्रार्थना करते हैं—विशेष रूप से शिव और हरि की, और फिर ग्रन्थ प्रणयन की तिथि का उल्लेख करते हुये इसके नाम करण का कारण बताते हैं। सर्व सुलभ और सर्व सम्मत नाम "रामायण" न कहकर वे अपने प्रबंध-काव्य को "रामचरित मानस" क्यों कह रहे हैं इसके कारण का संबंध शंकरजी से स्थापित करते हुये वे "जस मानस जेहि-विधि भयउ, जग प्रचार जेहि हेतु" ये तीनों बातें समझाने के लिए मानस स्थित (मन में स्थित) इस मानस का नगाधिराज स्थित भौतिक मानस (मान सरोवर) से बड़ा सुन्दर और विशद रूपक

बाँधते हैं। सर का ही रूपक नहीं, उससे निकलने वाली सरयू का भी रूपक वे इस कथा से भली भांति बाँध देते हैं और इस प्रकार अपने कथा-प्रबंध की एक सहज सुन्दर बिषयानुक्रमणिका भी दे देते हैं। उपक्रम की इस विषयानुक्रमणिका के ढंग पर, परन्तु इससे अधिक व्यापक रूप में, उपसंहार में भी उन्होंने एक विषयानुक्रमणिका दे दी है जो भुशुंडि द्वारा कही गई है।

रामचरितमानस तो पहिले शंकरजी के मानस ही में था। जगत्-कल्याण के लिए वह बाहर प्रवाहित हुआ। उन्हीं शंकरजी के प्रसाद से गोस्वामीजी के हृदय में भी सुमति हुलस गई जिसके कारण यह प्रासादिक रचना प्रकट हो गई और उसने उन्हें 'कवि' का पद दिला दिया। वास्तव में यह तो हरि हर की प्रेरणा से उद्भूत वाक्यावली है जिसे मंत्रावली ही कहना चाहिए क्योंकि "मनकामना सिद्धिवर पावा जो यह कथा कपट तजि गावा" अथवा "सतपंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरे, दारुन अविद्या पंच जनित विकार श्रीरघुवर हरे" आदि वाक्य प्रकारान्तर से यही तो कह रहे हैं।

गोस्वामीजी की रामकथा प्रारंभ होती है याज्ञवल्क्य भरद्वाज संवाद से। प्रयाग में एक बार भरद्वाज ने याज्ञवल्क्य से रामचरित का रहस्य पूछा। भरद्वाज की शंका का उत्तर तो याज्ञवल्क्य जी ने तुरन्त दे दिया परन्तु फिर भी इसी शंका के ढंग पर शंका करने वाली जगदंबिका पार्वतीजी और उस शंका के समाधान में रामलीला के रहस्य की अवतारणा करने वाले भगवान् शंकरजी के संवाद की चर्चा करके याज्ञवल्क्यजी ने बताया कि

किस समय और किस कारण इस रहस्य का उद्घाटन हो सका, यह भी सुन लिया जाय। "भयउ समय जेहि, हेतु जिहि, सो सुनि मिटिहि विषाद।" "जिहिहेतु" की चर्चा में स्वभावतः ही सती-चरित्र का प्रसंग आ गया।

यह 'हिम-शैल-सुता-शिव-ब्याह' रामकथा का आवश्यक अंग है, परन्तु इतना आवश्यक नहीं की उसका नवरस पूर्ण नाटकीय ढंगपर विशद वर्णन किया जाय। भरद्वाजजी ने पूछा रामचरित और याज्ञवल्क्यजी लगे कहने शिव चरित। यह बात भी सकारण ही थी उन्होंने देखा कि यह चरित सुनकर भी भरद्वाज के हृदय में "बहुतक प्रीति कथा पर बाढ़ी, नयन नीरु रोमावलि ठाढ़ी"। अतएव उन्होंने स्पष्ट कहा ही कि "प्रथमहिं मैं कहि सिव चरित बूझा मरमु तुम्हार।" इतिहास-ज्ञान अलग बात है और कथा-रस-भावना अलग बात है। इतिहास-ज्ञान का जिज्ञासु रामचरित को एक दो बार सुनकर ही अघा जायगा। वही-वही कथा वह बार बार क्यों सुने? परन्तु 'रस विशेष' का प्रेमी तो न केवल उस कथा की ही असंख्य पुनरावृत्ति का इच्छुक होगा पर उससे सम्बन्धित अन्य कथाओं में भी आनन्द विभोर हो जायगा। उपक्रम की शिव कथा और उपसंहार की भुशुंडि-कथा के विस्तार का यह भी एक कारण है।

उपक्रम की शिव विवाह-कथा के विस्तार का एक और भी कारण है। रामविवाह के विस्तृत वर्णन की नाटकीयता के लिए पहिले से ही एक ऐसे चित्र का उपस्थित रहना आवश्यक था जो विपर्यय (Contrast) का काम दे सके। गोस्वामीजी ने इसके

बाद भी जो अन्तः कथाएं अथवा 'उपकथाएं' दी हैं वे भी या तो किसी आगामी चित्र के विपर्यय के रूप में उपस्थित की गई हैं, तथा नारद मोह की कथा, अथवा किसी एक रस के अति विस्तृत प्रवाह में कुछ विविधतामय विराम दिलाने के उद्देश्य से कही गई हैं यथा, केवट प्रसंग। इनकी चर्चा आगे की जावेगी।

सती ने किस प्रकार राम के सर्वज्ञत्व पर शंका की। किस प्रकार उन्होंने उनकी परीक्षा ली और परिणाम में किस प्रकार उन्हें प्रायश्चित करना पड़ा। किस प्रकार वे पार्वती हुईं और फिर किस प्रकार काम दहन के बाद शंकर का अर्धासन उन्हें मिला। यह सब बता कर याज्ञवल्क्य ने कहा कि एक बार उपयुक्त अवसर मान पार्वतीजी ने रामविषयक जिज्ञासा उपस्थित की। "राम कवन ?" गिरजा का पूर्वपक्ष है सन्त कबीर के मुस्लिम-प्रभाव-युक्त निर्गुण राम वाद से मिलता जुलता सिद्धान्त पक्ष। परन्तु जानना चाहती हैं वे ऐसे 'रघुवर विशद यश' को जिसमें श्रुति सिद्धान्त का निचोड़ हो। कबीर ने कहा था न कि 'दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना, राम नाम कर मरम है आना" उमा का उत्तर देते हुए शंकरजी कहते हैं "तुम्ह जो कहा राम कोउ आना" यह तो "मोहपिशाच" से ग्रसे लोग ही कह सकते हैं। "जिन्ह कृत महामोद पद पाना, तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना"। यह मोहमद शब्द मोहम्मदी धर्म से प्रभावित पंथ-प्रवर्तकों की ओर भी लक्ष्य करा रहा हो तो क्या आश्चर्य ! आठ आठ तर्क देकर अन्त में शंकरजी कहते हैं "सोइ दशरथ सुत भगत हित, कौशलपति भगवान"। मानों कबीर की प्रथम पंक्ति का गोस्वामीजी द्वारा दिया हुआ उत्तर है यह।

उमा शंभु संवाद का यह पूर्वपक्ष और पर पक्ष भली भांति समझ लेने की वस्तु है। यही तो इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। "जेहि मह आदि मध्य अवसाना, प्रभुप्रतिपाद्य राम भगवाना"। नर रूप धारी राम ही प्रभु हैं, भगवान् हैं, निर्गुण सगुण सब कुछ है, यही तो इस मानस के आदि मध्य और अन्त सभी कहीं का प्रतिपाद्य विषय है। निर्गुण राम भिन्न नहीं और सगुण राम भिन्न नहीं। साकार राम की लीला इतिहास की दृष्टि से न देखी जाय। वह तो साधना की दृष्टि से देखी जाय। उमा ने जब एक इतिहास—जिज्ञासु के ढंग पर नवें प्रश्न के रूप में यह भी पूछ लिया कि—"प्रजन सहित रघुवंश मनि, किमि गवने निजधाम" तब शंकरजी ने इस प्रश्न के उत्तर में स्वभावतः ही चुप्पी साध ली थी और प्रथम के आठ प्रश्नों का उत्तर देने के बाद पूछा था "अब का कहहुं सो कहहुं भवानी।" उतनी दूर पहुंच कर भवानी का दृष्टिकोण बदल चुका था। वे समझ चुकी थीं कि लीलावतारी एक बार आकर फिर भक्तों का हृद्धाम छोड़ कर और किस धाम को गमन करेंगे। अतः उन्हें स्पष्ट कहना पड़ा कि उनके मन में अब और कोई जिज्ञासा न रही। "अब कृतकृत्य भयउं मैं बीते सकल कलेस।" गोस्वामीजी ने इस शंकर-मुख-निःसृत रामकथा को कभी इतिहास कहा नहीं। भुशुंडि की सी आधिदैविक कथा को अलबत्ता उन्होंने कई बार "इतिहास" के नाम से पुकारा है।

पार्वती के प्रश्न पर शिवजी की मानसिक अवस्था का जैसा

सुन्दर किन्तु संक्षिप्त शब्द-चित्र गोस्वामीजी ने दिया है वह देखने ही लायक है। 'मानस' में ऐसे चित्रों की कमी नहीं। पाठक उन्हें इस प्रबन्ध काव्य में जगह-जगह अंकित पायेंगे।

सुस्थिर होकर शंकरजी ने कहना प्रारंभ किया। "रामावतार कब और क्यों होता है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। फिर भी जब धर्म संस्थापन की आवश्यकता—जगद्व्यवस्था के संशोधन और संस्थापन की आवश्यकता—होती है तब प्रभु का अवतार होता ही है। ऐसे दो एक प्रसंगों की चर्चा मैं यहाँ करूंगा। एक जय-विजय का प्रसंग था जिनके संहार के लिये कश्यप अदिति द्वारा भगवान् अवतार हुआ। एक जलन्धर वृन्दा प्रसंग था। तीसरा नारद शाप का प्रसंग था।" नारद शाप की कथा को शंकरजी ने कुछ विस्तार के साथ कहा। सीता-विरह की राम-विषयक विकलता के कारण-रूप, और उसके विपर्यय-रूप, तथा उस अवसर पर नारद को उपस्थित करके कथा के रस में विविधता उपस्थित करने के उद्देश्य-रूप, से भी इस कथा का कुछ विस्तृत वर्णन आवश्यक था। तदन्तर चौथा प्रसंग उन्होंने स्वायंभुव मनु और शतरूपा के वरदान का बताया। इसी वरदान के फलस्वरूप पूर्ण ब्रह्म परमात्मा, रामरूप से अवतीर्ण हुए थे। इन्हीं राम को देख कर सती को मोह हुआ था। इन्हीं राम की कथा शंकर ने व्यापक रूप से कही है। इन्हीं राम के अवतार का अपर हेतु था प्रताप भानु प्रसंग। यह प्रसंग भी शंकरजी ने कुछ विस्तार से कहा है। रावण की प्रच्छन्न भक्ति और उसका पूर्व सुकृतत्त्व बताने के लिए इस कथा का कुछ विस्तार आवश्यक ही था।

जिन राम का वर्णन रामचरितमानस में है वे प्रधानतः ब्रह्म के अवतार राम हैं अर्थात् चतुर्थ प्रसङ्ग वाले ; परन्तु उनमें पूर्व के तीनों प्रसंगों वाले राम का, जो प्रधानतः विष्णु के अवतार माने जाते हैं, भी समावेश है। यह बात गगन-गिरा से स्पष्ट हो जाती है जो रामावतार के प्रथम हुई थी। उसमें चारों प्रसङ्गों का संकेत आ गया है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों ही ब्रह्म के अंश हैं। वैष्णव अंश का अर्थ है विश्व की पालक शक्ति। जिस व्यक्ति में विश्व की पालन शक्ति असाधारण कोटि की होगी वह विष्णु का अवतार कहलायेगा ही। यदि वही शक्ति एकदम पूर्णता को पहुंच कर सृजक और संहारक शक्ति में भी पूर्णता दिखाने लगे तो वह व्यक्ति केवल विष्णु ही का नहीं वरं परब्रह्म का अवतार भी कहा जायेगा। मुनीम में मालिक की शक्ति काम कर रही है और प्यादे में मुनीम की शक्ति। अब मालिक यदि स्वतः प्यादे का वेष धर कर काम कर रहा है तो प्यादे की हैसियत से वह मुनीम का मातहत परन्तु मालिक की हैसियत से वह मुनीम का अफ़सर है। राम को विष्णु का अवतार और "निज आयुध भुज चारी" वाला कहते हुये भी, "विष्णु कोटि सम पालन कर्त्ता" और "राम विरोध न उबरसि सरन विष्णु अज ईश" सरीखी वाक्यावली कहने वाले गोस्वामीजी का यह तात्पर्य, कभी भुलाया न जाना चाहिए।

दानवों के अत्याचार और देवों की उत्पत्ति की चर्चा करके गोस्वामीजी राम-जन्मकी परिस्थिति का संक्षिप्त किन्तु सुन्दर चित्रण कर देते हैं और फिर एकदम रामकथा के वर्ण्य विषय पर

आ जाते हैं। कुल २॥ दोहों में उन्होंने राम जन्म के पहिले की कथा कह डाली। कितनी संक्षिप्त और कितनी त्वरा पूर्ण है वह। फिर राम जन्म के उत्साह का मंगलमय सजीव चित्र सामने खड़ा कर दिया जाता है। रूपकों की बहार का क्या कहना है। वह तो ग्रन्थ भर में बिखरी पड़ी है।

पहिले चारों बालकों के जन्म की चर्चा है, फिर नामकरण की चर्चा है, फिर राम की शैशव वाली छवि की चर्चा है, फिर 'इहाँ वहाँ दुइ बालक देखा' का और 'देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखण्ड' का चमत्कार है। फिर चूड़ाकरण, बालविनोद, उपनयन, विद्याध्ययन, की चर्चा है जहाँ "नृप लीला खेलहिं" और फिर वन में "मृगया खेलहिं" का उल्लेख है। इन खेलों से जान पड़ता है कि गोस्वामीजी किस प्रकार की व्यावहारिक शिक्षा के पक्षपाती थे। फिर वेद पुराण सुनने और दिनचर्या के अन्य कुछ अंशों की, यथा प्रातःकाल उठने आदि की चर्चा है। यह सब चर्चा बहुत संक्षिप्त और बहुत त्वरापूर्ण है।

फिर रामचरितमानस का पहिला महत्वपूर्ण प्रसंग उपस्थित होता है जो है विश्वामित्र-आगमन का। घटनाचक्र इस प्रसंग को लेकर राम विवाह सम्पन्न कराता है। इसी के अन्तर्गत ताड़का वध, मारीच प्रक्षेपण, सुबाहु वध तथा यज्ञ रक्षा की संक्षिप्त चर्चा करके गोस्वामीजी मार्ग में अहल्या-उद्धार की बात बताते हुये, राम लक्ष्मण और विश्वामित्र को जनकपुरी पहुंचा देते हैं। राम के शौर्य और संयम के लोकोत्तरत्त्व की ख्याति के लिए राक्षसवध और अहल्या-उद्धार की चर्चाएँ आवश्यक थीं। विशद वर्णन तो

अपेक्षित था, जनकपुरी की घटनाओं का, जहाँ यह ख्याति पहुंची। गोस्वामीजी ने वही किया है।

मुनि महाराज ने दोनों कुमारों के साथ नगर के बाहर डेरा डाला। जनकजी ने आगमन सुना तो उन्हें सादर नगर में लिवा लाए। विशिष्ट लोगों में राम के रूप की विशिष्टता इस प्रकार अंकित हो गई। जब दोनों कुमार नगर-पर्यटन के लिए निकले तब सामान्य लोगों में भी वह विशिष्टता अपनी अमिट छाप लगा चुकी। सब की सदिच्छायें उनके पक्ष में अनायास ही हो गई। उन्होंने धनुष-मखशाला भी देखी। दूसरे दिन प्रातःकाल वे जनक फुलवारी गये। वहां राम और सीता का पारस्परिक दर्शन अनायास ही हो गया। दोनों का पूर्वानुराग जाग उठा और उसने उन दोनों को सुदृढ़ प्रेम ग्रन्थि में आबद्ध कर लिया। सीता-जी के प्रबल मनोबल ने सत्यतः ही अन्य नरेशों के लिए धनुष को अत्यन्त भारी और राम के लिए अत्यन्त हल्का बना दिया।

पुष्पवाटिका प्रसंग को कई लोग मानस की रामचरितमाला का सुमेरु मानते हैं। लौकिक पक्ष में 'शिष्ट शृङ्गार का इतना उत्तम उदाहरण विश्व के किसी भी साहित्यिक ग्रन्थ में खोजे नहीं मिलता। आध्यात्मिक पक्ष में, जीव और ब्रह्म के मेल का, अथवा सुरति और शब्द के योग का, इतना सुन्दर और साङ्गोपाङ्ग संकेत काव्य-मय भाषा में देने के लिए शायद ही कोई दूसरा कवि कहीं सक्षम हो सका हो। उसकी एक-एक पंक्ति में कमाल है।

धनुषयज्ञ प्रसंग भी अपने ढंग का बेजोड़ है। अभिनयता की दृष्टि से तो रामलीलाओं में यही सर्वाधिक रोचक रहा करता

है। यह गोस्वामीजी की काव्य चातुरी है कि उन्होंने अपनी रचना में रावण और बाण को डींगें हांकने का अवसर नहीं दिया न उन्होंने यही कहा कि वह धनुष तो सीताजी ने एक दिन सहज उठा लिया था। परशुराम प्रसंग को ठीक धनुषयज्ञ प्रसंग के साथ भिड़ाकर गोस्वामीजी ने अपनी रचना-चातुरी का चमत्कार ही दिखाया है। धनुर्भङ्ग के बाद झेँपे हुए राजाओं की बौखलाहट स्वाभाविक थी और रामके विरुद्ध उनका सम्मिलित षड्यन्त्र भी स्वाभाविक था। इतिहास में यह बात हुई हो या न हुई हो परन्तु मानव-जीवन की स्वाभाविकता में तो यह बात होनी चाहिए। कवि यह बात न दिखावे तो वह काव्य के सत्य की हत्या कर रहा है। ठीक इसी दृष्टि से उस समय एक ऐसी घटना का समावेश भी स्वाभाविक था जो उस षड्यन्त्र को वहीं शांत करने में सक्षम हो सके! इसके लिए परशुराम-प्रवेश से बढ़कर और कौन घटना मिल सकती थी। पृथ्वी को इक्कीस बार निःक्षत्रिय करने वाले परम तेजस्वी परशुराम को देखते ही राजाओं का कोलाहल और 'खरभर' आप ही खत्म होने की वस्तु बन गया। वे परशुराम राम के सामने हतवीर्य सर्प की तरह कोरी फुफकार वाले ही रह गये। और लक्ष्मण–कुमार द्वारा लड़कों की तरह ही बना डाले गये। यह सब देख सुनकर फिर किस विघ्नकर्त्ता की हिम्मत हो सकती थी कि आगे आये! इसीलिए परशुराम-संवाद पूरी नाटकीयता और पूरी रोचकता के साथ "क्लाइमैक्स" (चरम भावोत्कर्ष) के रूप में इस धनुष-यज्ञ प्रकरण से सम्बद्ध कर दिया गया है।

इतने सुन्दर घटना-प्रधान "क्लाइमैक्स" के बाद यह गोस्वामीजी

की ही क़लम थी जो राम-विवाह का लम्बा-चौड़ा वर्णन करते हुए भी रोचकता बनाये रख सकी। विपर्यय (Contrast) के रूप में शिव-विवाह का एक चित्र पहिले ही से उपस्थित कर दिया गया था। फिर, लक्ष्मी के वैभव की वह वह झाँकियाँ गोस्वामीजी ने दिखाईं जिनका अयोध्या के वर्णन में कहीं पता न था। 'यथाबंस व्यवहारु' की तफ़सील भी मन अटकाने के लिए बहुत थी। मनोवैज्ञानिक दिग्दर्शन (उदाहरणार्थ धनुर्भंग का सुखद समाचार पाकर दशरथ का व्यवहार, एक विवाह के सिलसिले में ग्राम नागरियों की यह कल्पना कि "व्याहियउ चारिउ भाइ येहिपुर, हम सुमंगल गावहीं" आदि।) तो स्थल-स्थल पर अमृत की वर्षा-सी करते चलते हैं। बरात का वर्णन इतना बहुमुखी और आकर्षक है कि घटना-बहुलता आप ही आ जाती है। कथा का विकास इतनी सुंदरता और स्वाभाविकता से हुआ कि एक से दो और दो से चार-चार विवाह सम्पन्न हो गए !! राम-विवाह के इस प्रकरण में वस्तु की विविधता ही नहीं वरं क्रिया की भी ऐसी विविधता है कि कौतूहल कहीं ढीला होने ही नहीं पाता।

"कवि कुल जीवन पावन जानी।
राम सीय जस मंगल खानी॥
तेहिते मैं कछु कहा बखानी।
करन पुनीत हेतु निज बानी॥"

राम का ब्याह जिस धूमधाम से हुआ और सीताजी के रूप में जैसी सर्वाङ्ग सुंदर सर्वगुण सम्पन्न वधू को साकेत वासियों ने देखा, इससे स्वभावतः ही सबके उर में अभिलाषा जागी कि राम

अब युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिये जायँ। "सबके उर अभिलाष अस, कहहिं मनाय महेसु, आप अछत युवराज पद रामहिं देहिं नरेसु।" परन्तु........???

बस यह 'परन्तु' ही रामचरित का दूसरा महत्वपूर्ण प्रसंग उपस्थित करता है। यहीं से बालकाण्ड समाप्त और अयोध्याकाण्ड आरंभ हो जाता है। वास्तव में आदि-रामायण का यही प्रधान वर्ण्य विषय था। जिसे यौवराज्य पद पर अभिषिक्त होना था उसे आदेश मिला कि वह चौदह वर्षों तक जंगल जंगल भटके। "बिघन मनावहिं देव कुचाली !!"

इस सम्बन्ध में गोस्वामीजी की कुशल लेखनी उत्तमता की पराकाष्ठा को पहुँच गई है। चरित्र चित्रण आदि की यह उत्तमता आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि की समर्थ लेखनी भी नहीं आँक पाई। अयोध्या-काण्ड का कथानक प्रतिद्वन्द्विता में अयोध्या ही है। मंदमति मंथरा का त्रिया-चरित्र, कैकेयी की जगाई हुई महत्वाकांक्षा, इन दोनों की आड़ में काम करनेवाली देवों की स्वार्थान्धता (तथा सभी को निर्दोष बना देनेवाली उनकी यह उक्ति कि राम तो हर्ष-विषाद-रहित हैं ही और इतर जीव अपने-अपने प्रारब्धानुसार सुख-दुख के भागी होंगे ही); फिर कैकेयी का कपट-पाटव और सत्य संध किन्तु राम के अनन्य प्रेमी दशरथ का "धरम सनेह" वाला अन्तर्द्वन्द; फिर कौशल्या, सुमित्रा, सीता, लक्ष्मण, सुमंत्र आदि के चरित्र की उदात्तता; और इन सबके साथ काम करनेवाली प्रेम तथा कारुण्य की अद्वितीय भूमिका, ने गोस्वामीजी की कला का संयोग पाकर विश्व साहित्य के लिए एक अनुपम वस्तु प्रदान कर दी है।

त्यागी और वीतरागी राम भावुक अयोध्यावासियों से अपने को बचाते हुए निषादराज की पुरी तक पहुँचे। गंगातट का वह श्रृंगवेरपुर (वर्तमान सिंगरौर) केवटों का निवास स्थल था। गुह था उन केवटों का ज्ञाति बन्धु (जातिभाई) और उन्हीं का राजा। राम के असाधारण सौंदर्य ने उन वन्यों को भी खूब प्रभावित किया। राम लक्ष्मण के सुंदर व्यवहार ने तो उन्हें बिना दाम का गुलाम बना लिया। "केवट कीन्हि बहुत सेवकाई" इसलिए उन्होंने "सो जामिनि सिंगरौर गँवाई।" वह दूसरा केवट था जिससे दूसरे दिन सबेरे नाव माँगी गई। इस दूसरे केवट का प्रसंग शिष्ट हास्यरस का बहुत उत्तम उदाहरण है और अनवरत कारुण्य के प्रवाह में एक अन्तःकथा बनाकर इस ढंग पर रख दिया गया है कि रस कहीं कुरस नहीं होने पाता और कथा-प्रेमियों को रस परिवर्तन का एक अनोखा विश्रामसा मिल जाता है जो भावयोग के आनन्द में चार चाँद लगा देता है। ऐसा ही रस-परिवर्तन का विश्राम भरत की यात्रा में उस समय मिलता है जब इसी सिंगरौर में गुह के ज्ञाति बन्धु भरत के विरुद्ध युद्ध-सज्जा से सुसज्जित हो रहे थे। वह कोई अन्तःकथा नहीं फिर भी भावयोग के आनंद को बढ़ानेवाली घटना अवश्य है।

प्रयाग पहुंचकर राम ने भरद्वाज से भेंट की। आगे बढ़कर उन्होंने वाल्मीकि महर्षि के दर्शन किये अथवा यों कहिये कि उन्हें दर्शन दिये। आगे चले तो यमुना के बाद उन्हें एक तेजपुंज तापस मिला जो सम्भवतः राजापुरस्थ गोस्वामीजी का ही अनादि कालीन जीव हो और स्थान-सान्निध्य के नाते यहाँ से साथ हो

लिया हो। फिर, एक जगह उन्होंने वटछाया में विश्राम किया और इस प्रकार उस क्षेत्र के लोगों को अधिकाधिक आकृष्ट और प्रभावित होने के अवसर देते हुए राम चित्रकूट पहुंचे। वाल्मीकि प्रसंग, तापस प्रसंग, वटछाया प्रसंग आदि इस वनगमन के कथानक में बड़ी रोचक विविधता ला देते हैं।

उधर, सर्वस्व हारे हुए जुआड़ी की तरह दीनहीन सुमन्त अयोध्या लौटे। राम विरह में दशरथ की मृत्यु हुई और भरत अपने ननिहाल से बुलवाये गये। उनके अनजाने परन्तु फिर भी उन्हीं को केन्द्र बनाकर, अयोध्या के राजनैतिक षड्यन्त्र ने, जिस प्रकार उनके प्राणाधिक अग्रज राम को बन भिजवाया और पूज्य पिता को परलोक जाने के लिए बाध्य किया, उसने भरत के सन्त-हृदय को एकदम झकझोर दिया। उस झकझोर से जो समुद्र-मंथन हुआ उससे प्रभु-प्रेम का अमृत-रस तो अपने पूर्ण रूप में प्रकट हुआ ही साथ ही भरत चरित्र के और भी अनेकों अनूपम रत्न प्रकट होकर प्रकाशित हो उठे। उनकी उदारता, उनकी सहनशीलता, उनकी दृढ़ता, उनकी कर्मण्यता, उनकी कर्तव्य बुद्धि और विवेकशीलता, उनकी त्यागभावना, आदि आदि न जाने कितनी अनुपम बातें स्पष्ट हो उठीं। रामायणें कई लिखी गईं और उनमें अनेक प्रकार के पाठ-भेद तथा कथा-भेद हुए (देखिये प्रथम परिच्छेद) किन्तु भरत के स्वेच्छापूर्ण त्याग और निश्छल तथा निःस्वार्थ अग्रज-प्रेम पर कहीं किसी ने एक भी छींटा लगाने का साहस नहीं किया। गोस्वामीजी ने ठीक ही कहा "भरतहिं जान राम परछाहीं।" उन्होंने उचित ही कहा "प्रेम अमिय मंदर

विरह, भरत पयोधि गभीर। मथि प्रगटे सुर साधु हित, कृपा सिंधु रघुवीर।" हम सरीखे अल्पज्ञों के मुंह से भी इसीलिए तो 'साकेत सन्त' की महिमा में निकल पड़ा है :—

"धन्य था कलंक, निष्कलंक कर मानस को
मानव का जिसने प्रकाश छिटकाया है।
धन्य था विरह वह, जिसने मथे हृदय,
भक्ति का अमृत खींच विश्व को भिगाया है।
धन्य वह सन्त था कि राम हेतु राम से भी
दूर हट, राम के समीप रहा आया है।
धन्य वह तार भारती की मंजु बीन का था,
जिसके स्वरों ने हमें भरत दिलाया है॥"

भरतजी के सामने लोभ की परिस्थिति उपस्थित की अयोध्या की राजसभा के चतुर सभासदों ने, क्रोध की परिस्थिति उपस्थित की सिंगरौर के उजड्ड ग्रामवासियों ने, काम की परिस्थिति उपस्थित की भरद्वाज की ऋद्धियों सिद्धियों ने। देवताओं ने अलग अपने चक्र चलाने चाहे, पथश्रम ने अलग झलके झलकाये, लक्ष्मण का रोष जो प्रकट हुआ उसका तो कहना ही क्या ; परन्तु सब विषमताओं को पार करते हुए आखिर उन्होंने आराध्य का साक्षात्कार कर ही लिया। चित्रकूट में इस साक्षात्कार के बाद भी घटना-चक्र तीव्र गति से, परन्तु पूरे विस्तार के साथ, आगे बढ़ता गया। आपसी बैठक के बाद पहिली आम सभा हुई जिसमें संकोची राम को चुपही रह जाना पड़ा। अब क्या हो। गोस्वामीजी ने पूर्व के परशुराम-प्रवेश की भाँति ठीक ऐसे अवसर पर "जनकदूत तेहि

अवसर आये" की चर्चा छोड़ दी। लोगों को फिर से सोचने, समझने और सलाहें करने का अवसर मिला। परम विवेकी विदेहराज जनक और परमज्ञानी महामुनि वशिष्ठ की मतियां भी जिनकी मति के सामने अबलासी सहमी रह जायं उन भरत का वह प्रसंग जिस खूबी से गोस्वामीजी ने अंकित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। बिरलाही कोई अभागा हृदयवान् व्यक्ति होगा जो उनके अयोध्याकाण्ड का उत्तरार्ध, बिना अश्रुपात किये हुए, पढ़ जाय। रामकथा में भरत-भेंट ही वह तीसरा मार्मिक तथा महत्वपूर्ण प्रसङ्ग है जिसका क्लाइमैक्स (चरम भावोत्कर्ष) चित्रकूट की अन्तिम सभा के निर्णय के समय हुआ है। इस अमूल्य देन के लिए गोस्वामीजी की जितनी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है। यह देन इतनी महत्वपूर्ण थी कि द्वितीय सोपान की (अयोध्या-काण्ड की) कथा की यही समाप्ति करनी पड़ी है यद्यपि रामकथा की दृष्टि से चित्रकूट चरित चर्चा की इति और फलश्रुति आगे चलकर अरण्य काण्ड के कुछ पृष्ठों के बाद वर्णित हुई है।

चित्रकूट से भरत के प्रस्थान के अनन्तर और राम के प्रस्थान के पूर्व एक ऐसी घटना घटी थी जिसका हाल लक्ष्मणजी तक को विदित न था। वह था जयन्त प्रसंग। कवि कुलगुरु कालिदास ने लिखा "विददार स्तनौ द्विजः।" भक्तशिरोमणि गोस्वामीजी ने लिखा "सीता चरन चोंच हति भागा, मूढ़ मन्दमति कारन कागा।" इस अन्तःकथा के लिखने के दो उद्देश्य जान पड़ते हैं। एक तो यह कि राम एकाकी होकर भी इतने शक्तिशाली हैं कि उनके सींक धनुष सायक' से भी त्रैलोक्य में कोई किसी को बचा नहीं

सकता। अतएव आगे चलकर सीताहरण के समय जो वे वियोगी की सी अवस्था में घूमते फिरेंगे वह उनकी लीलामात्र ही होगी। दूसरा यह कि सीताजी की खोजकर लौटने वाले कपि के 'सहिदानी' (साक्षी) रूप से ऐसी भी तो कोई बात रहनी चाहिये जिसका जानकार राम और सीता के अतिरिक्त कोई तीसरा भारतीय कभी रहा ही न हो।

चित्रकूट छोड़ते समय राम ने अत्रि और अनसूया से भेंट की। पातिव्रत्य धर्म की चर्चा करते हुये श्री अनसूयाजी ने मानों सीताजी के पातिव्रत्य के भावी कठोर तप का पूर्वाभास दे दिया।

आगे चलकर कथा फिर कुछ त्वरायुक्त हो जाती है। विराध वध की चर्चा के बाद शरभङ्ग समाधि की चर्चा है। फिर ऋषियों के अस्थि समूह देखकर "निसिचर हीन करहुं महि, भुज उठाइ प्रण कीन्ह" की बात है। प्रण किया जाते ही, प्रण-पूर्ति के पथ को प्रशस्त करने वाले महामुनि अगस्त्य ऋषि के शिष्य सुतीक्ष्ण मिलते हैं जो उन्हें गुरुदेव के पास ले चलते हैं। उन गुरुदेव से "मुनिद्रोही मारण मन्त्र" पूछा जाता है। गुरुदेव पंचवटी का निवास बता देते हैं। पंचवटी का बसना ही मुनिद्रोही मारण का सूत्रपात कर देता है। इस बीच एक बार गृद्धराज की भेंट आवश्यक थी इसलिये उसका केवल संकेत मात्र कर दिया गया। फिर गोदावरी तट पर पंचवटी की पर्णशाला का उल्लेख होकर "लछमन उपदेश अनूपा" की चर्चा है। वह चर्चा उस समय हुई थी जब राम का पंचवटी में स्थायी निवास हो चुका था। ऐसी स्वस्थ चर्चा यह संकेत ही करती है कि वहाँ वे लोग आराम से बस चुके थे।

इसके अनन्तर रामकथा के अन्य महत्वपूर्ण घटनाक्रम का सूत्रपात होता है। दक्षिण की पंचवटी राक्षसों के प्रभाव-क्षेत्र में थी। रावण के भाई खर और दूषण अपनी प्रबल सेना के साथ उस इलाके में थे ही। उनकी बहन सूर्पणखा भी स्वैरिणी होकर वहीं घूमा करती थी। उसने एक बार राम लक्ष्मण को देखा और देखते ही मुग्ध हो गयी। उस 'दुष्ट हृदय दारुन जसि अहिनी' के हृदय में यह मुग्धता, भक्ति उपजाने के बजाय, उच्छृंखल कामुकता की सृष्टि करने लगी; क्योंकि वह एक ही की ओर न तन्मय रहकर कभी राम की ओर और कभी लक्ष्मण की ओर चक्कर काटने लगी थी। जो अपनी इज्ज़त का ख़्याल न करे उसकी नाक बेकार और जो किसी की सलाह पर ध्यान न दे उसके कान बेकार। सूर्पणखा को नकटी बूची बनना पड़ा। बस, मानो रावण को चुनौती दे दी गई। मुनि-द्रोही-मारण-मंत्र—का प्रयोग प्रारम्भ हो गया। पहिले खर और दूषण ससैन्य स्वाहा हुये फिर विश्वामित्र यज्ञ के बचे हुए मारीच की आहुति हो गई।

मारीच को आहुति रूप से उपस्थित किया रावण ने, जिसके पास फ़रियाद करती हुई सूर्पणखा पहुंची थी। रावण का उस समय का स्वगत-कथन बहुत मार्मिक है। वह बहुत महत्वपूर्ण भी है। उसने "मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ एहा" किया कि 'जो भगवन्त लीन्ह अवतारा' तो फिर 'प्रभुसर प्रान तजे भव तरऊं।' और "जो नररूप भूप सुत कोऊ" हैं वे लोग, तो फिर निश्चय ही "हरिहउं नारि जीति रन दोऊ।" उभय दृष्टि से उसने निश्चय किया कि सीता को हर लाया जाय। वह सीता को यथाशक्ति इज्ज़त ही

देता रहा तथा अपने इसी दृढ़ मंत्र के कारण, सीता को लौटा देने के सम्बन्ध की किसी की सीख, उसने किसी प्रकार न मानी। उसने निज भाल पट्ट के लिखे लेख को पढ़कर जान लिया था कि मनुज के हाथ उसकी मृत्यु है इसलिए कदाचित् वह चाहता था कि लोग उसके हृदय में यह भावना दृढ़ कर दें कि राम मनुष्य हैं। परन्तु बात उलटी ही हुआ करती थी। स्वतः वह भी, जान पड़ता है, बहुत दिनों तक इसी द्विविधा में पड़ा रहा कि राम अवतारी पुरुष हैं या केवल मनुष्य मात्र। जिस दिन उसने प्रबल विरोध के निश्चय से "कहां राम रण हतउं प्रचारी" कहा उसी दिन उसकी मुक्ति हुई। ऐसा था राम का वह प्रतिनायक। गोस्वामी जी ने उसका चरित्र-चित्रण उसके महान् प्रतिनायकत्व के अनुरूप ही किया है।

सीताहरण ही रामकथा का चौथा और सबसे महत्त्वपूर्ण तथा उत्कृष्टतम प्रसंग है। परन्तु भक्तप्रवर गोस्वामीजी यह कैसे मान सकते थे कि वास्तविक सीता का हरण हुआ था। अतः उन्होंने भी छाया-सीता की चर्चा करके "लछिमन हू यह मरमु न जाना" कह दिया है। कनक मृग रूपी मारीच के वध के बाद छाया-सीता हरी गईं। उन्हें बचाने में जरठ-जटायु ने अपने प्राण होमे। उसके प्रति प्रभु राम की इतनी कृतज्ञता हुई कि "ताकी क्रिया यथोचित, निजकर कीन्हीं राम।" आगे कबन्ध का निपात हुआ जिस प्रसंग में ब्राह्मणों की महिमा गाई गई और फिर शबरी का प्रसंग आया जिसमें संतों की महिमा गाई गई और भक्ति ही का एकमात्र नाता मानने की बात कही गई। शबरी के प्रति कही

हुई नवधा भक्ति अध्यात्म रामायण के अनुकरण की नवधा भक्ति है परन्तु साथ ही वह 'लछिमन उपदेश अनूपा' से किसी प्रकार बाहर नहीं। सीता की खोज के सम्बन्ध में शबरी उन्हें पंपासर जाने की सलाह देती है जहाँ सुग्रीव सहायक रूप में उनका कार्य सिद्ध कर सकेगा। पंपा सरोवर का प्राकृतिक वैभव पर्याप्त उद्दीपक था परन्तु राम की विरह लीला तो एक लीलामात्र थी यह, नारद प्रवेश कराकर तथा राम द्वारा उनके सन्मुख काम-निन्दा और संत-चर्चा कराकर और रामनाम को सब नामों पर श्रेष्ठत्व का वर-दान दिलाकर, गोस्वामीजी ने बड़ी खूबी से स्पष्ट कर दिया है।

किष्किन्धा कांड से मङ्गलाचरण का क्रम बदल जाता है। पहिले राम की वन्दना होती है फिर शंकर की। इसी काण्ड में तो जगद्गुरु शंकर श्री रामसेवक हनूमान रूप से मिलने वाले थे। फिर भी, गोस्वामीजी ने मानस में कहीं स्पष्ट नहीं कहा कि हनूमान शंकरावतार हैं। भक्त की महिमा उसकी नम्रता ही में है। संकेत से चाहे जो 'चाहे जिस तरह समझ ले, और चाहे जिस तरह कह दे।'

पंपा सरोवर के बाद ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव से भेंट हुई। सुग्रीव के सचिव थे हनूमान्। विप्ररूप धर कर वे पहिले राम का भेद लेने आये। दोनों के बीच का वार्त्तालाप बड़े मार्के का है। प्रभु को हनूमान ने किस प्रकार पहिचाना यह रहस्य सम-झने वाले ही समझ सकते हैं। अन्त में सुग्रीव और राम की मित्रता दृढ़ हुई तथा इधर सीता के कुछ समाचार मिले और उधर बालि वध का आयोजन बँधा। सीता की खोज फिर होती

रहेगी परन्तु पहिले इस नूतन मित्र सुग्रीव का संकट तो दूर हो जाय। यह था राम का औदार्य ! इसी औदार्य ने सामान्य 'काम' को साधु परित्राण का रूप दे दिया।

बालिवध के औचित्य पर गोस्वामीजी ने भी कुछ न सोचा हो यह बात नहीं। उन्होंने स्वतः बालि से दो प्रश्न कराये:—(१) मुझे व्याध की तरह छिपकर क्यों मारा गया ? तथा (२) मुझ में कौन अवगुण देखा गया जो मुझ से बैर किया गया और सुग्रीव से प्रेम ? भगवान् राम ने पहिले दूसरे प्रश्न का उत्तर दिया फिर पहिले का। इन उत्तरों से पाठकों को सन्तोष हो या न हो परन्तु बालि तो परास्त हो ही गया। जिन्हें इतने पर भी अनौचित्य दिखाई पड़ रहा हो वे समझ लें "सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ। चरित राम के सगुन भवानी, तरकि न जाहिं बुद्धि मन बानी।"

काम की उपकरण रूप प्रमदा को तो गोस्वामीजी ने बहुत फटकार बताई है और इसी दृष्टि से नारी-निंदा भी, जी खोल कर, जगह-जगह की है; परन्तु स्त्रियों के प्रति आदर भाव भी उन्होंने कम नहीं दिखाया है। रावण की स्त्री मन्दोदरी और बालि की स्त्री तारा के शुद्ध हृदय ने राम के देवत्व का आभास पहिले पाया था। इन दोनों ने अपने अपने पति को खूब समझाया परन्तु भावी वश इनकी बात सुनी न गई। फिर भी न तो बालि ने तारा का अपमान किया न रावण ने मन्दोदरी का। प्रतिनायक के चरित्र की यह महत्ता रस-सिद्ध गोस्वामीजी की ही सफल और सबल लेखनी ठीक-ठीक अंकित कर सकती थी।

बालि वध के अनन्तर रामने प्रवर्षण गिरि पर वर्षा और शरद् ऋतु बिताई। वर्षा में तो खोजी दल का प्रस्थान कठिन ही था परन्तु जब शरद् में भी सुग्रीव ने किसी को न भेजा तब राम ने पहिले अपना क्रोध और पीछे शील प्रदर्शित करते हुये खोजी दलों के प्रेषण का आयोजन करा लिया। सब ओर से पता यही मिल रहा था कि रावण दक्षिण दिशा की ओर सीताजी को हर ले गया है। अतः दक्षिण की ओर हनूमान, अंगद, जाम्बवान् आदि प्रमुख बानर सेनापति भेजे गये। राम ने हनूमान को अंगूठी दी और कहा "बहु प्रकार सीतहिं समुझायेहु।"

ये प्रमुख बानर-गण दक्षिण के एक विवर में तपपुंज स्वयंप्रभा से तथा गृद्ध दृष्टि वाले सम्पाती से सीताजी का कुछ-कुछ पता पाकर समुद्र तट पर आये और वहां जाम्बवान् के प्रोत्साहन पर हनूमान् ने समुद्र उल्लंघन किया।

कथा अब पंचम सोपान पर प्रवेश करती है जो सभी दृष्टियों से सुन्दर काण्ड कहाता है। यहां सुरसा, सिंहिका और लंकिनी से हनूमान् का मुकाबिला होता है। इन त्रिशक्तियों की चर्चा में राम कथा का अध्यात्मिक रूप सहसा झलक मार जाता है। शान्ति रूपी सीता अशोकवाटिका ही में रह सकती हैं। उनका पता लगाने और स्वात्मा राम से उनका पुनः संयोग घटित कराने के लिए सद्विचार-रूपी पवन-पुत्र को ही आगे बढ़ना पड़ता है। शांति तो आत्मा की अर्धाङ्गिनी है। महामोह रूपी रावण ही इस संसार में उसे अलग करने की चेष्टा करता है परन्तु फिर भी वह उसका उपभोक्ता नहीं बन सकता। आत्मा की ओर से सद्विचार

प्रेषित किया जाता है और वह सतोगुणी शक्ति रूपी सुरसा, तमोगुणी शक्ति रूपी सिंहिका और रजोगुणी शक्ति रूपी लंकिनी से यथायोग्य निपटारा कर न केवल अशोकवन तक पहुंचता और न शान्ति का पता ही पा जाता है किन्तु मोह की सुवर्णमयी माया (सम्पत्ति) को भी भस्म करने में अपनी समर्थता दिखा देता है।

समुद्र पार कर हनूमान्‌जी ने लङ्का देखी। लङ्का-वर्णन के तीन छन्दों में ही गोस्वामीजी ने नवों रस भर दिये और राक्षसों के इस वर्णन पर अपनी सफाई देते हुये लिख दिया "एहि लागि तुलसीदास इन्ह की कथा कछुयक है कही, रघुबीर-सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पइहहिं सही।" हनूमान्‌जी ने न केवल शत्रुनगरी का भलीभांति निरीक्षण ही कर लिया किन्तु शत्रु के भाई को अपना विश्वस्त मित्र भी बनाया और उससे पूरा भेद पाकर सीताजी के दर्शन आदि तो किये ही साथ ही रावण के पास तक पहुंचने की हिकमत निकाल ली और उसे पहिले साम-दाम के द्वारा और फिर लंकादहन रूपी दण्ड के द्वारा ख़ासी नसीहत भी दे दी।

हनुमत्-चरित्र के कारण सुन्दर काण्ड एक विशिष्ट साधना का काण्ड बन गया है। बाल्मीकीय रामायण का सुन्दर काण्ड भी परम चमत्कार पूर्ण और अनुष्ठानिकों का परम आधार है। गोस्वामीजी के रामचरित मानस के सुन्दर काण्ड ने भी इस दिशा में वैसी ही सफलता पाई। संक्षिप्त होते हुए भी यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

हनुमत्-चरित्र के अनन्तर इस काण्ड में विभीषणोपाख्यान ग्रथित किया गया है। विभीषण ने रावण को समझाना चाहा परन्तु उसे मिला पाद-प्रहार। वह अपनी स्थिति स्पष्ट करता हुआ बोला "राम सत्य संकल्प प्रभु, सभा काल वस तोरि

मैं रघुबीर सरन अब जाहुँ, देहु जनि खोरि।"

इस स्पष्टीकरण के बाद भी जो उसे पञ्चमाङ्गी कह कर कोसते हैं उनकी बुद्धि पर तरस आना चाहिए।

विभीषण-उपाख्यान भक्तों का सर्वस्व है। झूम झूम कर भक्त लोग यत्र तत्र गाते देखे जा सकते हैं :—

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं, करत मनोरथ बहु मनमाहीं
देखिहउं जाइचरन-जलजाता, अरुन मृदुल सेवक सुख-दाता।
जे पद परसि तरी रिषि नारी, दण्डक कानन पावन कारी
जे पद जनक सुता उर लाये, कपट कुरंग संग धर धाये।
हर उर सर सरोज पद जेई, अहो भाग्य मैं देखिहउं तेई।
जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरत रहे मन लाइ
ते पद आज बिलोकिहउं, इन्ह नयनन्हि अब जाइ।

इसके अनन्तर रावण के गुप्तचरों की कुछ चर्चा करके समुद्र निग्रह की बात कही गई है और इस प्रकार सुन्दर काण्ड पूर्ण किया गया है। वाल्मीकीय रामायण और आध्यात्म रामायण में भी समुद्र-निग्रह की बात इस काण्ड में नहीं कही गई।

हनुमत् चरित्र विभीषणोपाख्यान और समुद्र-निग्रह की तीन स्वतन्त्र कथाएँ इस वृहत् प्रबन्ध-काव्य में लघु कथाओं का आनन्द देती हैं। इन तीनों की शृङ्खला कुछ इस ढंग की है कि अनेक

दृष्टियों से गोस्वामी जी का सुन्दर काण्ड अपूर्व बन गया है। सामान्य कलेवर का यह काण्ड घटना-वैचित्र्य और रचना-वैचित्र्य, चमत्कार-विधान और रस-विधान, चरित्रचित्रण-चातुर्य और संवाद-विरचन-चातुर्य, शैली और संदेश, आदि सभी दृष्टियों से, ऐसा बन पड़ा है कि रामायणी व्यास लोग प्रायः इस सुन्दर काण्ड ही पर विशेषरूप से प्रवचन करते देखे जाते हैं।

समुद्र-निग्रह के बाद कथा लंका-काण्ड में प्रवेश करती है। पहिले सेतुबन्ध होता है। फिर वहां शंकर की स्थापना की जाती है। अर्थ यह कि लङ्का के सांस्कृतिक आराध्य के प्रति भारत के हृदय में भी पूर्ण सम्मान है। यदि विरोध है तो केवल रावण के दुष्कृत्य से ही। फिर सुवेलशैल पर डेरा डाला जाता है। सामने लंका-शिखर पर रावण के महल की मजलिस जमी है। राम एक बाण फेंक कर वहां के रंग में भंग करते और इस प्रकार अपने आगमन की सूचना देते हैं। काव्य-दृष्टि से सुवेलशैल वाली वह झाँकी पर्याप्त आकर्षक है, कर्तव्य-दृष्टि से वह पर्याप्त शिक्षाप्रद भी है।

युद्ध अनिवार्य जान पड़े तो भी अन्तिम क्षण तक शान्ति के समझौते का प्रयत्न कर देखना चाहिए। इसी नीति के अनुसार रावण के मित्रपुत्र युवराज अंगद दूत बनाकर भेजे गये। संस्कृत के माघ कवि का कथन था "आत्मोदयः पद ज्यानिः राजनीति-रितीयती"। अपना अभ्युदय और शत्रु की हानि, बस इतने ही में तो राजनीति का सर्वस्व है। गोस्वामी जी, राम के मुख से अंगद को कहलाते हैं "काज हमार तासु हित होई, रिपुसन करेहु

बतकही सोई"। हानि नहीं किन्तु हित हो वह बात की जाय। हनूमान् और अंगद दोनों ही वाक् चतुर थे और प्रत्युत्पन्न बुद्धि वाले थे इस बात के प्रमाण गोस्वामी जी ने अनेक स्थलों पर दिये हैं। इन दोनों ने अपना दूतत्व भी यथायोग्य ढंग पर ही निबाहा। हनूमान् सचिव की मर्यादा तक रहे, अंगद राजवंशी की हैसियत से भी बोल गये। परन्तु बात उन्होंने सोलहो आने उसी भाषा में की जो रावण के समान दुराग्रही और दुराभिमानी के लिए प्रयुक्त होनी चाहिये थी।

रिपु के समाचार पाकर और युद्ध विषयक उसकी मनःस्थिति का हाल जानकर राम ने उसी दिन अपने सचिवों की सहायता से युद्ध छेड़ दिया। सप्ताह के सातों दिन वह युद्ध चला और दिन पर दिन अधिकाधिक भीषण होता गया। पहिले दिन चारों द्वार के नाके साध कर बानर लोग लड़े। रावण का कलश युक्त भवन उसी दिन ढह पड़ा और राक्षसी-सेना भी उसी दिन अधिया गई। दूसरे दिन मेघनाद ने बड़ा ज़ोर बांधा। नवों खण्डों में युद्ध का घोष भर गया। लक्ष्मण जी बड़े बिगड़े। दोनों का घनघोर युद्ध हुआ। अन्त में वीर घातिनी सांग चला कर मेघनाद ने लक्ष्मण को मृतप्राय कर दिया। औषधि के लिए हनूमान् को उत्तराखण्ड भागना पड़ा। राम बहुत विकल हुये किन्तु समय पर औषधि आ गई और लक्ष्मण जी जीवित हो उठे। तीसरे दिन कुम्भकर्ण जगाया गया। उसकी भीषण आकृति ही बानर सेना में तहलका मचा देने के लिए पर्याप्त थी। उस के भयंकर युद्ध से सुग्रीव आदि सब घबड़ा उठे। स्वतः राम के भी "स्रम बिन्दु

मुख राजीव लोचन, अरुन तन सोभित कनी" दृष्टिगोचर होने लगी। वह महाबली कुम्भकर्ण, शर पूर्ण त्रोण के समान, मुण्ड काटा जाने पर भी, रुण्ड से युद्ध करता रहा। जब रुण्ड भी दो टूक किया गया तब कहीं उसका तेज प्रभु के आनन में प्रविष्ट हुआ। चौथे दिन मेघनाद का महाभयंकर युद्ध हुआ। उसने राम तक को नागपाश के बन्धन से बांध दिया, जिसके परिणाम में गरुड़ को वहाँ सहायतार्थ आना पड़ा। वह तो अजय मख का अनुष्ठान भी करने जा रहा था परन्तु उस मख की पूर्ति के पहिले ही लक्ष्मण जी ने उस योद्धा की समाप्ति कर दी, अन्यथा न जाने कैसा विकट अनर्थ हो जाता।

शेष तीन दिनों तक राम रावण युद्ध होता रहा। प्रथम दिन धर्मरथ की चर्चा करके युद्ध वर्णन की भीषणता में बड़ा विश्रान्ति-पूर्ण विपर्यय उपस्थित किया गया है। फिर भी युद्ध की उत्तरोत्तर भीषणतामें अन्तर नहीं आने पाया है। इसी दिन लक्ष्मण को ब्रह्म-शक्ति लगी। इसी दिन रावण शत वाणों से आहत होकर धराशायी भी हुआ था। दूसरे दिन उसने यज्ञानुष्ठान प्रारम्भ किया परन्तु विभीषण के संकेत पर बानर यूथकों ने उसका विध्वंस कर दिया। तब जीविताशा छोड़कर रावण ने महाभयंकर युद्ध प्रारम्भ किया। वीभत्स रस मानों साक्षात् अवतीर्ण हो उठा। विग्रही राक्षस मारे गये। अपने को अकेला पाकर रावण ने माया-युद्ध प्रारम्भ किया। यह ढंग देख सुरपति ने भी अपना दिव्य रथ राम के लिए भेज दिया। अब दोनों ओर से भीषण युद्ध होने लगा। रावण की माया के आगे लक्ष्मण तक घबरा उठे। उसके भुज

और सिर कट कट कर गिरते रहे परन्तु फिर नवीन नवीन प्रकट भी होते रहे। संसार रावणमय सा हो गया। अन्त में मूर्च्छा के कारण उसका सूत उसे हटा ले गया। उसके इस भीषण युद्ध से अत्यन्त संत्रस्त सीता जी को त्रिजटा ने सान्त्वना दी और इस प्रकार रावण वध की पूर्व पीठिका तैयार कर दी। तीसरे दिन के महा घनघोर युद्ध के बाद गोस्वामी जी को भी कहना पड़ा "श्री राम रावन समर चरित अनेक कल्प जो गावहीं; सत सेस सारद निगम कवि, तेउ तदपि पार न पावहीं।" इस युद्ध के अनन्तर, विभीषण के संकेत पर, प्रभुराम ने इकतीस वाण एक साथ छोड़े—बीस भुजाओं के लिए, दस मुण्डों के लिए और एक नाभिसर के पीयूष का शोषण करने के लिए। यही अन्तिम वाण रावण का अन्तक बन गया और उसका तेज प्रभु के आनन में समा गया। प्रभु का शरीर भी इस युद्ध से इतना क्षत विक्षत हो चुका था मानो तमाल तरु पर लाल मुनियां बैठी हों।

रावण वध के अनन्तर कथा में फिर त्वरा आ जाती है। हनूमान् जी सीता को सादर लिवा लाते हैं। सबके सामने उनकी अग्नि परीक्षा होती है। छाया-सीता वहीं अंतर्धान हो जातीं और असली सीता प्रकट हो जाती हैं। देवगण आकर जयजय-कार प्रारम्भ करते हैं। ब्रह्मा, इन्द्र, शंकर और यहाँ तक की दशरथ भी, उस स्थल पर राम को साधुवाद देने और उनकी स्तुति करने आते हैं। राम शीघ्र ही अवध लौटने का प्रस्ताव करते हैं। पुष्पक विमान लाया जाता है, पट भूषणों की वर्षा की जाती है और राम दल बल सहित अवध की ओर चल देते हैं। वनगमन मार्ग का फिर एक बार विहंगावलोकन हो जाता है।

राम-कथा का बचा हुआ अंश उत्तर काण्ड में है। कौतूहल की तो कोई ख़ास बात रह नहीं गई इसलिए कथा में भी पर्याप्त त्वरा है। राम आगमन के संबंध में मां की उत्कंठा अलबत्ता दर्शनीय थी। वहीं से उस काण्ड की कथा का आरंभ है। राम आये। प्रेम और आनन्द का समुद्र उमड़ पड़ा। फिर शीघ्र ही "जग अभिराम राम अभिषेक" का आयोजन हुआ और वंदी वेष से वेदों ने राम का विरुद बखाना। छः महीने इसी आनन्द में बीत गये। तब बानर सेनापतियों और निषाद आदि की विदाई हुई और फिर राम का निश्चिन्त राज्य शासन प्रारंभ हुआ। "राम राज बैठे, त्रय लोका, हरषित भये, गये सब सोका।"

राम राज्य पर आकर कथा फिर फैल जाती है। इसे आप चाहें तो राम कथा का पंचम महत्व पूर्ण मार्मिक प्रसङ्ग समझ लें। राम के समान वर्ताव करो न कि रावण के समान (रामदिवद् वर्तिनव्यं न तु रावणादि वत्), रावण राज्य के बदले रामराज्य की स्थापना कराओ, विदेशी परतंत्रता से जकड़े हुये भारत को स्वदेशी आदर्श स्वातंत्र्य का आशामय संदेश दो, इसी का दिग्दर्शन कराना तो गोस्वामीजी के मुख्य उद्देश्यों में से एक था। कथा के आरंभ में उन्होंने रावण राज्य का चित्र खींचा :—

"जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला
सो सब करहिं वेद प्रति कूला।
नहि हरि भगति जज्ञ जप दाना
सपनेहु सुनिय न वेद पुराना।

बरनि न जाय अनीति, घोर निसाचर जो करहिं
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पापहिं कवन मिति।
बाढ़े खल बहुचोर जुवारा, जे ताकहिं परधन परदारा
मानहिं मातु पिता नहिं देवा, साधुन्ह सन करवावहिं सेवा।
जिन्हके ये आचरन्ह भवानी, ते जानहु निसिचर सम प्रानी॥"

कथा के अन्त में वे राम राज्य का चित्र खींचते हैं :–

"सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीती।
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउं पीरा, सब सुन्दर सब विरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥"

आमय, अभाव और अज्ञान ये ही तीन तो मानव-समाज के प्रबल शत्रु हैं। स्वास्थ्य, समृद्धि और सुविज्ञता ही उनके लिये परम अभीष्ट हैं। जो व्यवस्था इन्हें पूरी तरह दे सके वह है रामराज्य। कलि-धर्म-वर्णन में गोस्वामीजी ने कहा :—

"इरिसा परुषाक्षर लोलुपता, भरि पूरि रही, समता विगता" रामराज्य वर्णन में उन्होंने कहा, "बयरु न करु काहूसन कोई, राम प्रताप बिसमता खोई।" इस प्रेममय साम्यवाद के कारण "त्रेता भइ कृतयुग कै करनी"। जहाँ ऐसा साम्य है वहीं सतयुग है।

रामराज्य, उस राज्य का गौरव, उसका नैसर्गिक प्रकृति पर भी प्रभाव, उसके अनुसार राम का गृह प्रबंध और उनकी दिनचर्या, उनकी राजधानी का निर्माण-कौशल, वाटिका-वैभव, बाज़ार, सरयू के घाट और सम्पूर्ण पुरी की शोभा, और, फिर, लोगों के आमोद प्रमोद में यही शिक्षा कि "भजहु प्रनत प्रतिपालक

रामहिं" इन सबका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी राम-प्रताप रूपी प्रबल दिनेश का विवरण देकर यह प्रकरण समाप्त करते हैं।

रामराज्य के असिधारा-व्रत की मार्मिकता के संबंध में दो आख्यान बहुत प्रचलित हैं एक है सीता-परित्याग और दूसरा है शम्बूक-वध। पहिला आख्यान तो मार्मिकता-पूर्ण कारुण्य की पराकाष्ठा को पहुंच गया है। परन्तु इतिहास साक्षी है कि ये दोनों आख्यान रामकथा में बहुत बाद जोड़े गये हैं। जिस दृष्टि से गोस्वामीजी ने रामकथा लिखी उस दृष्टि से इन आख्यानों का उस कथा में समावेश भी न हो सकता था। अतएव गोस्वामीजी ने अपने रामराज्य प्रकरण में इनकी चर्चा तक नहीं की। चर्चा तो चर्चा है, संकेत तक नहीं किया।

इसके बाद गोस्वामीजी ने तीन चित्र उपस्थित किये हैं। एक बार राम सब बन्धुओं तथा परम प्रिय पवन-कुमार के साथ सुन्दर उपवन देखने गये। वहाँ सनकादिक ने आकर स्तुति की और भरतजी ने सन्तों की महिमा तथा लक्षण पर भगवान के वाक्य सुने। एक बार राम ने सब पुरवासियों को बुलाया और उनसे तत्व की बातें कहीं। श्रोतागण कृतकृत्य हो गये। एक बार गुरु वशिष्ठजी आये और कुछ आत्म-निवेदन करते हुये कुछ रहस्य की सी बातें कहीं। यही तीन चित्र हैं। इसके बाद "पुनि कृपालु पुर बाहेर गये" "गये जहाँ शीतल अंबराई।" उनके श्रमापनोद के अवसर पर वहीं नारदजी आये और उनके गुणगान करके तथा उनकी छवि अपने हृदय में धरकर विधि धाम को चले गये।

यहीं रामकथा रुक जाती है, और शंकरजी श्री भवानीजी से पूछते हैं "अब का कहउं सो कहहु भवानी।" भवानीजी का दृष्टि कोंण अबतक तो निश्चय ही बदल चुका था, जैसा पहिले कहा गया है, अतः वे कहती है "धन्य धन्य मैं धन्य पुरारी...अब कृतकृत्य न मोह।" वे फिर कहती हैं "रामचरित जे सुनत अघाहीं, रसबिसेस जाना तिन्ह नाहीं। हरि चरित्र मानस तुम्ह गावा, सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा।" अतएव वे अब भुशुंडि के आख्यान के प्रति जिज्ञासा करती हैं और शंकरजी इस रामकथा के उपसंहार में गरुड़ भुशुंडि संवाद के प्रकरण का विस्तार करके भक्ति के तत्व का बहुत सुन्दर और बहुत मार्मिक विवेचन कर देते हैं।

यही है मानस की रामकथा का संक्षिप्त विहंगावलोकन। है यह विहंगावलोकन मात्र, परन्तु हो गया है कहीं कहीं पर विवेचनात्मक भी।

स्मरण रखना चाहिये कि हमने सामान्य सुविधा के बिचार से ही इस विहंगावलोकन में "काण्डों" की चर्चा की है। वस्तुतः तो गोस्वामीजी के मानसीय सोपानों को 'काण्ड' कहना उनके साथ अन्याय करना है। किन्तु यह अगले परिच्छेद का विषय होगा।

चतुर्थ परिच्छेद

मानसी राम कथा की कुछ विशेषताएं

वह भक्ति शास्त्र का रूप लेकर अवतीर्ण हुई है।

गोस्वामीजी शिष्य परम्परा के भक्त तो थे ही, अतएव भक्ति के महत्व की ओर उनका झुकाव स्वाभाविक था, परन्तु वे विचारक भी ऊंचे दर्जे के थे, और अपने बिचारों के आधार पर भी उन्होंने अपने समय में हरि भक्ति पथ को ही सामूहिक कल्याण के लिये परम वाञ्छनीय साधन समझा था। व्यक्तिगत कल्याण के लिये भी वे भक्ति की अनिवार्यता के कायल थे।

"वेद पुरान सन्तमत एहू, सकल सुकृत फल राम सनेहू।
सो सुतन्त्र अवलम्ब न आना, तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना।
आगम निगम पुरान अनेका, पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।
तव पद पङ्कज प्रीति निरन्तर, सब साधन कर यह फलु सुन्दर।
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई, अभि अन्तर मल कबहुँ न जाई।
राकापति षोड़स उअहिं, तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइय, बिनु रवि राति न जाइ॥
ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा, मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा।
वारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल"॥

इसीलिये वे कहते हैं :—

"देह धरे कर यह फलु भाई, भजिय राम सब काम बिहाई।"

व्यक्तित्वाभिमान के प्रति अनासक्त हो जाना कर्ममार्ग का ध्येय है, उसको मिथ्या समझ लेना ज्ञानमार्ग का ध्येय है उसे भगवान् में लगा देना भक्ति मार्ग का ध्येय है। शास्त्रकारों का कथन है कि जो स्वभाव से ही संसारानुरक्त जीव हैं उनके लिये कर्म मार्ग उत्तम है, जो स्वभाव से ही संसार विरक्त जीव हैं उनके लिये ज्ञान मार्ग उत्तम है और जो स्वभाव से ही न वहुत अनुरक्त तथा न वहुत विरक्त जीव हैं उनके लिये भक्ति मार्ग उत्तम है। मानव समाज में इसी अन्तिम कोटि के जीव विशेष संख्या में पाये जाते हैं। अतएव धर्मनामधारी प्रत्येक सम्प्रदाय, भक्तिमार्ग का ही किसी न किसी प्रकार का सहारा लेकर आगे बढ़े हैं

गोस्वामीजी अपनी राम कथा के विषय में कहते हैं :—

"निज सन्देह मोह भ्रम हरनी, कहउं कथा भव सरिता तरनी।"

भ्रम और सन्देह का निराकरण ज्ञान द्वारा होता है, मोह का निराकरण वैराग्य द्वारा होता है और भवसागर-सन्तरण भक्ति द्वारा होता है। अतएव वह कथा हुई "संयुक्त विरक्ति विवेक हरि भक्ति पथ" के रूप की। दूसरी दृष्टि से देखिये तो सन्देह, भ्रम और मोह, अज्ञान की ही तीन श्रेणियां हैं। सामने सीप पड़ी हैं! उसके सम्बन्ध में, 'यह सीप है कि चांदी' यह हुआ सन्देह। 'यह चांदी ही है' यह हुआ भ्रम। 'चूंकि यह चांदी ही है अतएव बिना किसी तर्क वितर्क के इसे ही सँभाल कर रखना चाहिये,' यह हुआ मोह। व्यवस्थित ज्ञान का ही नाम है शास्त्र; अतएव जो अज्ञान के तीनों दर्जों को दूर करे वह हुआ शास्त्र। और, जिस शास्त्र में भव-संतरण की क्षमता है वह हुआ भक्ति-

शास्त्र। अतएव, गोस्वामीजी की रामकथा, स्वतः उन्हीं के कथानुसार, एक भक्ति-शास्त्र का रूप लेकर प्रकट हुई है।

भक्ति शास्त्र में आराध्य, आराधक और आराधना, तीनों का साङ्गोपाङ्ग उत्तम विवेचन होना चाहिये। अपने अन्य ग्रन्थ 'तुलसी-दर्शन' में हमने स्पष्ट किया है कि गोस्वामीजी ने मानस में इन तीनों का कितना सुन्दर विवेचन कर दिखाया है। यह विवेचन उन्होंने इस खूबी से किया है कि कथारस कहीं बिगड़ने नहीं पाता। शास्त्र को काव्य की मनोरञ्जकता से इस प्रकार भर देना उन्हीं का काम था। भक्ति-शास्त्र (तुलसीदासजी के मत का भक्ति-शास्त्र, अथवा यों कहिये कि 'तुलसीमत') और रामकथा का उनके मानस में ऐसा सुन्दर समन्वय हो गया है कि सिद्धान्त रूप से जिसे तुलसीमत कह सकते हैं व्यवहार रूप से वही रामकथा बन गई है।

बाल्मीकीय रामायण के प्रणयन की तह में है आदर्श मनुष्य की खोज। "कोऽत्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्य वाक्यो दृढ़ व्रतः॥ एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे, महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञतुमेवं विधं नरम्॥" आध्यात्म रामायण के प्रणयन की तह में है आदर्श इष्टदेव की खोज।

"आपदामपहर्तारं दातारं सर्व सम्पदाम्।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयोभूयो नमाम्यहम्॥"

समर्थ महर्षि बाल्मीकि ने मनुष्य के आदर्श को बहुत खूबी के साथ राम के चरित्र में उतारा, फिर भी उसमें कुछ कोर कसर बाकी रह

ही गई थी जिसका परिमार्जन गोस्वामीजी की रामकथा में बड़ी उत्तमता से हो गया है। आध्यात्म रामायण में आदर्श इष्टदेव के रूप की अच्छी चर्चा है परन्तु गोस्वामीजी की रामकथा में इष्टदेव के रूप का निखार कुछ निराली ही ख़ूबी लिये हुए है।

उस इष्टदेव की आराध्यता के विषय में जो कुछ कहा जाय वही थोड़ा है जो "बलि पूजा चाहत नहीं, चाहत इक प्रीति ; सुमिरत ही मानै भलो पावन सब रीति।" आराध्य में विशिष्ट रूप न सही, विशिष्ट लीला न सही, उसका विशिष्ट धाम तक न सही, परन्तु विशिष्ट नाम तो रहेगा ही। जिसे दूसरे किसी नामधारी आराध्य पर प्रीति या प्रतीति हो वह उसी नाम पर अपनी प्रीति प्रतीति दृढ़ करके अपना कार्य सिद्ध कर सकता है। इसके लिये गोस्वामीजी की रामकथा किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं उपस्थित करती। परन्तु जो गोस्वामीजी के द्वारा प्रदर्शित विशिष्ट नाम ही को ग्रहण कर सका, वह भी उनकी रामकथा को पढ़कर निःसन्देह उन्हींके स्वर में स्वर मिलाता हुआ कह उठेगा :—

"प्रीति प्रतीति जहां जाकी तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय बाप दुइ आखर, हौं सिसु अरनि अरो॥"

गोस्वामीजी ने अपनी रामकथा में रामचरित्र की अपेक्षा रामनाम को विशेष महत्व भी दिया है।

"भनिति मोरि सब गुन रहित, विश्व विदित गुन एक,
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति, जिन्ह के विमल विवेक।
एहि महँ रघुपति नाम उदारा, अतिपावन पुरान श्रुति सारा,
मङ्गल भवन अमङ्गल हारी, उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥"

संसार प्रगतिशील है और इस प्रगतिशीलता में सम्भव है कि हमें आदर्श दृष्टि से रामचरित्र के कोई अंश खटकने भी लगें। बालि वध के से प्रसंग पर कई लोग अब भी शंकाएँ करते ही रहते हैं।

"चरित राम के सगुन भवानी, तरकि न जाहिं बुद्धि मन बानी।"

परन्तु नाम का तत्व ऐसा है कि वह प्रगतिशीलता में भी अपना अस्तित्व अक्षुण्ण बनाये रह सकता है। नाम वही होगा, उसके अर्थों में भले ही प्रगति होती चली जाय। जिसके मन में जैसी भावना हो वह अपने अपने आराध्य की—अपने-अपने प्रभु की—मूर्ति उसी प्रकार देखता रहे; परन्तु यदि वह सच्चा विचारशील है तो किसी भी स्थिति में अपने प्रभु को "राम" नाम से सम्बोधित करने में उसे कोई ख़ास लज्जा न होगी। जिस प्रभु के हज़ारों नाम हैं और हो सकते हैं, उसका एक यह भी नाम सही। इतने पर भी यदि किसीको इस नाम से भी ख़ास एतराज़ ही है तो वह समझ ले कि उसे मानस की रामकथा में अनामी परमात्मा और उसकी भक्ति का तत्व मात्र ग्रहण करना है। और इसी तत्व प्रदर्शन के संकेत मात्र के लिये गोस्वामीजी ने "राम" शब्द का उपयोग किया है। 'विरति विवेक संयुक्त भक्ति शास्त्र' में इस विचारधारा के लिये भी पर्याप्त सामग्री मिल जायेगी।

(२) वह रामायण रूप में नहीं किन्तु रामचरित मानस रूप में है।

आदि-कवि महर्षि बाल्मीकि ने रामकथा का नाम दिया

'रामायण'। वे राम के अयन अर्थात् राम के गमन (वन गमन) को प्रधान विषय मानकर चले थे। तब से यह परम्परा सी चल पड़ी कि जिसने रामचरित्र लिखा उसीने उसका नाम रखा रामायण। 'रामायण शत कोटि अपारा'। भक्तों के हित के लिये अध्यात्म परक चरित्र भी लिखा गया तो उसका भी नाम हुआ अध्यात्म रामायण। यद्यपि अयन का अर्थ घर भी होता है अतएव रामायण वह ग्रन्थ हो सकता है जिसमें "राम" का निवास हो। परन्तु 'रामायण' में अयन से गमन का अर्थ ही विशेष रूप से मान्य रहा आया है। गोस्वामीजी के समान भावुक भक्त तो भगवान् राम के आगमन के इच्छुक थे न कि गमन के। वे तो समझते थे कि भक्तों के मानस में एक बार जब भगवान् का आगमन हो गया तब फिर वह धाम तजकर उनका गमन कहां हो सकता था। "किमि गवने निज धाम ?" का उन्होंने उत्तर तक नहीं दिलाया है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः ही वे अपनी रामकथा को 'रामायण' नाम दे ही न सकते थे। यह प्रकरण-विशेष को लेकर लिखी हुई कोई इतिहास की पोथी तो थी नहीं। यह तो थी पूरे चरित्र की चर्चा, जो मानस में (शिव के मानस में) समुद्भूत हुई और मानस (जन मानस) को शान्ति देने के लिये मानस (मानसरोवर) के समान ही शीतल तथा सुखद पाई गई। अतएव इसका नाम रखा गया "रामचरित मानस।"

"रामचरित मानस एहि नामा, सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा।
मन-करि विषय अनल बन जरई, होइ सुखी जौं एहि सर परई॥
रामचरित मानस मुनि भावन बिरचेउ संभु सुहावन पावन।

त्रिविध दोष दुख दारिद दावन, कलि कुचालि कलि कलुष नसावन ॥
रचि महेस निज मानस राखा, पाइ सुसमउ उमा सन भाखा ।
तातें राम चरित मानसवर, धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर ॥

× × ×

संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी, रामचरित मानस कवि तुलसी ।
करइ मनोहर मति अनुहारी, सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी ॥

शंकर के प्रसाद से सुमति के हुलसने पर ही गोस्वामीजी ने रामचरित मानस की रचना की है। रचना के पहिले इस कथा का रस उनके मानस में भरा फिर वही रस सुभग कविता के रूप में बाहर बह चला। वह मानस में रहा मानसरोवर की तरह और बाहर बहा सरयू की तरह।

अस मानस मानस चख चाही, भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही ।
भयउ हृदय आनन्द उछाहू, उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू ॥
चली सुभग कविता सरिता सी, राम विमल जस जल भरिता सी
सरजू नाम सुमंगल मूला, लोक वेदमत मंजुल कूला ॥

मानसरोवर की तरह जो रस मानस में भरा वह साधु सज्जनों ने वेद पुराणों से सङ्कलित किया था और अपनी पीयूष वाणी द्वारा गोस्वामीजी के श्रवणमार्ग से उनकी मेधा पर उतारा था। वहाँ वह जल चिरकाल तक सञ्चित रहकर विशेष सुखद हो गया। उपमायें, चौपाइयाँ, युक्तियाँ, दोहा, सोरठा तथा छन्द और उनमें निहित भाषा भाव तथा अपूर्व अर्थ, ध्वनि, वक्रोक्ति, काव्यगुण, नवरस आदि उस सुधास्वादीय रामकथा के आनुसंगिक अलङ्कार हुए। उसका रस तो नवरसों से श्रेष्ठ था, समूचे काव्य चमत्कार

से श्रेष्ठ था। काव्य चमत्कार ही क्यों, 'सुकृत पुञ्ज', 'ज्ञान वैराग्य विचार', 'अर्थ धर्म कामादिक चारी', 'जप तप जोग विरागा', सब उस रस के समीपवर्ती और उस रस से पुष्ट होनेवाले बाहरी पदार्थ थे। वह रस तो उन सबसे ही श्रेष्ठ था।

जो रस कविता के रूप में सरयू की तरह बाहर बहा; वह लोकमत और वेदमत दोनों मंजुल कूलों को लेकर चला। उस रसधार की उत्पत्ति हुई मानस से और मिली जाकर वह रामभक्ति रूपी सुर-सरिता में (अर्थात् वह उपलब्धि करावेगी रामभक्ति रूपी सुर-सरिता की); अतः इस काव्य-सरयू के रस का जो सज्जन श्रवणपुट से पान करेंगे उन्हीं के मानस पवित्र हो जायेंगे। "मानसमूल मिली सुरसरि ही, सुनत सुजन मन पावन करि ही।" इस सरयू का जल अद्भुत है। श्रवणमात्र से ही सुख पहुंचाने लगता है और आशा, पिपासा तथा मनोमल का हरण कर देता है। भगवान राम स्वतः इस रस का पोपण करते हैं, (अर्थात् यह प्रासादिक काव्य है)। अतएव यह सकल कलि कलुप ग्लानि के हरण की क्षमता रखता है। इस रस में सादर अवगाहन करने से हृदय के पाप परिताप मिट जाते हैं। जिसने इस रस से अपने मानस का प्रक्षालन न किया, समझना चाहिये कि वह कायर कलियुगी चक्कर में है।

गोस्वामीजी ने स्वमति के अनुसार अपनी रामकथा के रस का इस प्रकार गुण कथनकर और उसमें अपने मानस को अच्छी तरह भिगोकर "सुहाई कथा" कही है। उनका रामचरित मानस जो काव्य सरयू के रूप में बह निकला है, रस रूप ही ठहरा,

अतएव जल बीज ("व") से इस ग्रन्थ का उपक्रम और इसी जल बीज से इसका उपसंहार किया गया है। 'वर्णानामर्थसंघानां' से हुआ ग्रन्थ का प्रारम्भ और 'दह्यन्तिनो मानवाः' से हुई समाप्ति। यहाँ से वहाँ तक मानो मानस (मानसरोवर) की सरसता मानस में (रामचरित मानस में) ओतप्रोत हो गयी।

मानस का रूपक आदि से अन्त तक निबाहते हुए गोस्वामीजी ने उसके चार घाटों और सात सोपानों (सीढ़ियों) की भी चर्चा की है। घाटों के विषय में उनका कहना है, "सुठि सुन्दर संवाद-वर विरचे बुद्धि विचारि, तेइ एहि मानस सुभगसर घाट मनोहर चारि।" उनके मानस को रामकथा के अपूर्व रस से भरनेवाले तो थे सन्त रूपी घन, जिन्होंने अपनी सामग्री वेद पुराण रूपी उदधि से ली थी, परन्तु घनों का वह सलिल भी घाटों ही के द्वारा तो मानस में विशेष रूप से भरा। यों तो चारों दिशाओं से जल भरा करता है इसीलिये हरएक सरोवर के चार घाट कहे जाते हैं, परन्तु जल के आगमन की मात्रा में घाट-घाट का महत्व अलग-अलग रहा करता है। किसी घाट से अधिक जल आ गया, किसी से कम। किसी घाट में अन्य घाटों का जल भी बहकर पहुँच गया और इस तरह सम्मिलित रूप से वह सरोवर में पहुँचा। गोस्वामीजी के मानस में रामकथा का रस पहुँचाने का प्रधान घाट था "निजगुरु"। "मैं पुनि निजगुरु सन सुनी कथा जो सूकर खेत।" इस घाट के रस में सभी घाटों का रस पहुँच चुका था। परन्तु अन्य तीन घाट कौन थे या कौन हो सकते हैं इसके अनुसन्धान के लिये गोस्वामीजी को अपनी मति का पूरा प्रयोग

करना पड़ा। तब कहीं "समुझि परी कछु मति अनुसारा।" यह गोस्वामीजी की अपनी ही कल्पना थी। बुद्धि से विचार कर ही इन घाटों का निर्णय किया गया और इनका क्रम बाँधा गया है। "सुठि सुन्दर संवाद वर, विरचे बुद्धि विचारि।"

उन तीन घाटों में, एक हुआ देव-संवाद का घाट, एक हुआ खग-संवाद का घाट, एक हुआ मुनि-संवाद का घाट। पहिला हुआ 'स्वः' अथवा अध्यात्म लोक का विषय, दूसरा हुआ 'भुवः' अथवा अधिदैव लोक का विषय। तीसरा हुआ 'भूः' अथवा अधिभूत लोक का विषय। पहिला हुआ ज्ञान का क्षेत्र (विवेक का क्षेत्र), दूसरा हुआ भक्ति का क्षेत्र (भावना का क्षेत्र), और तीसरा हुआ कर्म का क्षेत्र (प्रवृत्तियों का क्षेत्र)। पहिला घाट हुआ बुद्धि के सन्तोष के लिये, दूसरा चित्त के सन्तोष के लिये, तीसरा हुआ मन के सन्तोष के लिये। पहिले में प्रस्फुटित हुआ चित् दूसरे में आनन्द और तीसरे में सत्। पहिला हुआ आत्मा के लिये, दूसरा हुआ जीव के लिये, तीसरा हुआ देही चेतन के लिये।

आराध्य को देह-बुद्धि, जीव-बुद्धि, और आत्म-बुद्धि के भिन्न दृष्टिकोणों से देखना मनुष्य-स्वभाव है। देह-बुद्धिवाले के लिये एक मानवी आदर्श ही चाहिये। एक महामानव—एक नराकार आराध्य—एक पूर्ण पुरुष—मर्यादा पुरुषोत्तम ही चाहिये। वही उसका इष्ट हो सकता है। भक्ति के क्षेत्र में वह 'दासोऽहं' तक ही जायगा। जीव-बुद्धिवाले के लिये एक अतिमानवी आदर्श चाहिये जो जीव ही की तरह चेतन हो, अविनाशी हो, सूक्ष्म हो और

साथ ही व्यक्तित्व-गुण-विशिष्ट हो। हाँ, यह अवश्य है कि वह जीव की तरह अणु अथवा अपूर्ण न हो। वह हो पूर्ण विभु, क्योंकि वह जीवों का आदर्श ठहरा न, आराध्य ठहरा न! अतएव वह मानव न होगा। महामानव भी नहीं। वह होगा देव। इष्ट देव। उसके विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण उसके नाम, रूप, स्थान (धाम) और चरित्र अथवा क्रिया-कलाप (लीला) में भी विशिष्टता रहेगी। अपनी-अपनी कल्पनाओं के अनुसार वह साकेत-लोक का राम, गो-लोक का कृष्ण, बैकुण्ठ का विष्णु, क्षीर-सागर का नारायण, कैलाश का शिव, सत्य-लोक का ब्रह्म या ब्रह्मा, अथवा सातवें आसमान का अल्लाह या गाड होगा। जीव-बुद्धि वाला अपने आराध्य से स्वभावतः ही अपने घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करेगा। यह अणु, वह विभु। यह अपूर्ण, वह पूर्ण। यह अंश, वह अंशी। भक्ति के क्षेत्र में वह "त्वदंशकः" तक पहुँच जायगा। आत्म-बुद्धिवाले के लिये न नराकार रूप ही चरम सत्य हो सकता है न सुराकार रूप ही। रूप स्वतः ही एक सीमा है और सत्य वह सत्य ही कैसा जो सीमाबद्ध रह जाय। अतएव आत्म-बुद्धिवाले का आदर्श होगा सर्वान्तर्यामी निराकार सर्वात्मा, जो विश्वरूप होते हुए भी नेति-नेति कहा जाता है। वहाँ आराध्य आराधक में अन्तर ही क्या? जो आराध्य राम है वही आराधक शिव है। भक्ति के क्षेत्र में वह "त्वमेवाहं" तक निश्चय ही पहुँच जायगा। "देहबुद्ध्या तु दासोऽहं, जीव-बुद्ध्या त्वदंशकः आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहं, इति मे निश्चला मतिः।"

मनुष्य के ज्ञातव्य (Knowing) कर्तृत्व (willing)

और भोक्तृत्व (Feeling) की मूल वृत्तियों का भी यही तकाज़ा है कि अपने आराध्य का त्रैविध्य इसी प्रकार देखा जाय। त्रैविध्य में एक विधि की कमी हुई कि मनुष्य-समाज को पूर्ण संतोष होने का नहीं; क्योंकि मनुष्य में जिस तरह तीनों वृत्तियां रहना अनिवार्य है, उसी तरह मनुष्य-समाज में तीनों भावनाओं वाले लोग रहना भी अनिवार्य है। यह अवश्य है कि, जैसे मनुष्य-मनुष्य में इन वृत्तियों का न्यूनाधिक्य होता रहता है, वैसे समाज-समाज में भी इनसे प्रभावित भावनाओं का न्यूनाधिक्य देखा जा सकता है। यही क्यों, सत्, रज और तम भी तो ज्ञान, क्रिया और भाव के अन्य रूप हैं और उनके न्यूनाधिक्य के दर्शन, देश और काल, दोनों क्षेत्रों में हुआ करते हैं। अतएव मनुष्य तथा मनुष्य-समाज को, किसी देश काल में आराध्य का नराकार रूप ही अधिक-पसन्द आ सकता है, किसी अवस्था में सुराकार रूप ही, और किसी समय निराकार रूप ही। कभी वह मर्यादा पुरुषोत्तम के आदर्श चरित्र से शिक्षा लेकर आगे बढ़ेगा, कभी अपने अनिष्ट के निवारण और इष्ट की प्राप्ति के लिये वह उसे इष्टदेव के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहेगा, और कभी वह अपने समग्र संशयों के छेदन और हृदय ग्रंथि के भेदन के लिये उसे सर्वान्तर्यामी जानकर तन्मयत्व प्राप्त करेगा।

आराध्य के आधिभौतिक चरित्र से व्यवहारिक शिक्षा मिलती है, आध्यात्मिक चरित्र से आत्म-विकास का पारमार्थिक-क्रम बँधता है, और आधिदैविक चरित्र से कल्पनाओं तथा भावनाओं को बड़ी शान्ति मिलती और भव-सन्तरण सुगम हो उठता है।

कर्मयोग के लिये आधिभौतिक चरित्र है, ज्ञान योग के लिये आध्यात्मिक चरित्र है, भावयोग के लिये आधिदैविक चरित्र है। चरित्र का माधुर्य आधिभौतिक क्षेत्र में विशेष रूप से देखा जाय, चरित्र का ऐश्वर्य आधिदैविक क्षेत्र में विशेष रूप से देखा जाय और चरित्र का प्रकृततत्व आध्यात्मिक क्षेत्र में विशेष रूप से देखा जाय।

देव-संवाद में तो आत्मदृष्टि (आत्म बुद्धि) स्पष्ट ही है। जो शिव है वही राम। जो आराधक वही आराध्य। शिव ने तत्व स्पष्ट किया और शक्ति ने सुना। आत्मा कहने वाला, बुद्धि सुनने वाली। बालकाण्ड के आदि में सगुण निर्गुण विवेचन, नाम और नामी का विवेचन, दृष्टान्त और दार्ष्टन्ति का विवेचन, अपनी-चरमता को पहुँचा है। खग-संवाद में जीव दृष्टि (जीव बुद्धि) स्पष्ट है। संतो ने जीव को हंस कहा है क्योंकि वह स्वभावतः ही उत्क्रान्तिशील है—ऊर्ध्वगामी है–व्योम विहारी है–तथा साथ ही साथ विवेकशील भी है—दूध और पानी को अलग अलग कर देने वाला। जहाँ विवेक का निर्णय ही, पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष में विभक्त हो गया हो, वहां जीव हंस न होकर दूसरा ही कोई खग होगा। शरीर की उत्तमता और अधमता से जीव की उत्तमता और अधमता नहीं आँकी जाती। अष्टावक्र के शरीर का ध्यान किसने किया। काकभुशुन्डि के शरीर का ध्यान क्यों किया जाय। अधम-शरीर धारी उत्तम जीव हुआ वक्ता, और उत्तम शरीर धारी संशयग्रस्त जीव हुआ श्रोता। मध्यस्थ (कथा रसिक) हुए हंस रूप धारी वही शिव जो अध्या-

त्मरस के भी आदि-उद्गम हैं। इष्टदेव के ऐश्वर्य और उनके शरण्यत्व की ऊंची से ऊँची जो भी कल्पना हो सकती है, भावयोग की ज्ञान-विज्ञान-सम्मत चर्चा जिस हद की उत्तमता तक पहुँच सकती है, वह सब भुशुंडि-आख्यान के रूप में उत्तरकाण्ड के उत्तरार्ध में विद्यमान है। देव-संवाद में वक्ता श्रोता के स्वानुभव का साक्ष्य रखा हुआ है, खग-संवाद में भी वक्ता के स्वानुभव का साक्ष्य है। इन्हीं सब कारणों से तो आलोचकों ने कहा "बाल का आदि उत्तर का अन्त, जो जानै सो पूरा संत।"

मुनि-संवाद में देह-दृष्टि (देह बुद्धि) स्पष्ट है। वक्ता श्रोता दोनों ही नर देहधारी मनुष्य ही तो थे। इस संवाद के प्राश्निक के मन में राम का नराकार रूप ही प्रधान था। देव-संवाद में उमा ने पूछा 'निराकार ईश्वर को मानव कैसे माना जाय।' खग-संवाद में गरूड़ ने पूछा 'पाशबद्ध (नागपाश बद्ध) व्यक्ति को सर्वशक्तिमान् इष्टदेव कैसे माना जाय।' मुनि-संवाद में भरद्वाज ने पूछा 'सामान्य काम-क्रोध-वाले मानव को ईश्वर कैसे माना जाय।' उमा ने राम की सर्वज्ञता पर शंका की, गरूड़ ने उनकी सर्वशक्तिमत्ता पर शंका की, और भरद्वाज ने उनके स्वभाव पर ही शंका की। राम का "नारि विरह दुख लहेउ अपारा, भयउ रोष रन रावण मारा" वाला सामान्य काम क्रोध, किन दिव्य गुणों का सृजक हो सकता है ? उत्तर में याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट किया कि उस सामान्य से जान पड़ने वाले काम क्रोध ने, लोक-संग्रह के क्षेत्र में किस प्रकार "परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृतां" का उदात्त रूप धारण कर लिया। मनुष्य के भीतर किस प्रकार

देवत्व और ब्रह्मत्व प्रस्फुटित हो गया, यही सब चर्चा तो इस मुनि संवाद का सार है। जिस तरह "खग जानै खग ही की भाषा" उसी प्रकार कहा जा सकता है "नर जानै नर ही की भाषा।" मनुष्य के लिये मुनि-संवाद मार्ग ही विशेष महत्वपूर्ण हो सकता था। गोस्वामी जी के समय देश काल की जो परिस्थिति थी उसमें तो और भी विशेष रूप से राम के आधिभौतिक चरित्र का ही विस्तार करने की आवश्यकता थी। दास्य भाव की भक्ति के विस्तार की भी इसीलिये उस समय विशेष आवश्यकता थी। "सो अनन्य असि जाके मति न टरइ हनुमन्त, मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।" "तुलसिहिं बहुत भली लागत जग जीवन राम गुलाम को।" राम के अनुकरण पर जीवन बिताया जाय। राम का गुलाम होकर रहा जाय ताकि व्यवहार के दासत्व से सबको छुटकारा मिल सके, स्वतंत्रता मिल सके। अतएव राम के आदर्श मानव चरित्र को प्रस्फुटित करने वाला मुनि-संवाद ही गुरु मुख की कथा में विशिष्टता पाने वाला कहा गया। कथा-माहात्म्य में अपना क्रम मुनि-संवाद से ही प्रारंभ कर गोस्वामीजी कहते हैं—"जाग बलिक जो कथा सोहाई, भरद्वाज मुनि वरहि सुनाई। कहिहउँ सोइ संवाद बखानी, सुनहु सकल सज्जन सुखमानी।" अतएव स्पष्ट है कि इसी संवाद की कथा उन्होंने विशेष रूप से कही है। यही आधिभौतिक भाव प्रधान कथा तो उन्हें उनके गुरु ने सुनाई थी। "मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।"

पहिले विचार, फिर भाव, फिर क्रिया का क्रम प्रसिद्ध ही है।

इसी क्रम से प्रथम वक्ता हुए शंकर, द्वितीय वक्ता हुए उन्हीं से कथा-प्रसाद प्राप्त करने वाले भुशुण्डि और तृतीय वक्ता हुए भुशुण्डि से प्राप्त कथा-प्रसाद को आगे बढ़ाने वाले योगिराज याज्ञ-वल्क्य। इन तीनों घाटों का रस स्वतंत्र रूप से भी गोस्वामी जी के मानस में भरा और गुरुमुखवाले घाट से होते हुए भी। हिमालयस्थ मानस में जल का प्रवाह चारों ओर से एक समान आ भी तो नहीं सकता था। चारों घाट कहने के लिये अलग अलग हों, परन्तु जल जब एक बार मानस में आकर सुस्थिर हो गया तब कौन कह सकता है कि उसके कितने बिन्दु किस घाट से आये। फिर तो उसके प्रत्येक बिन्दु में चारों घाटों का रस सन्नि-हित हो जाता है। अतएव घाटों से केवल यही तात्पर्य समझा जाय कि मानस की राम कथा समाधि-भाषा की वस्तु है जिसके आध्यात्मिक अर्थ भी हो सकते हैं, आधिदैविक भी और आधि-भौतिक भी। जिसे जो अर्थ और जो प्रसङ्ग रुचें उन्हें वह प्रेम पूर्वक ग्रहण करले और शेष अंशों को दूसरों के लिये छोड़ दे। हाँ, इतना अवश्य ध्यान रखा जाय कि अर्थों में विशेषता आधिभौतिक अर्थ की ही है—मुनि-संवाद वाले प्रसङ्गों की ही है—अतः प्रत्येक प्रकरण की खींचतान आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थों में न की जाय! तभी मानस के रस का उत्तम स्वारस्य मिलेगा।

मानस-प्रेमियों ने चार घाटों से ज्ञानघाट, भक्तिघाट (उपासनाघाट), कर्मघाट और दैन्यघाट का अभिप्राय लिया है। इतना ही नहीं, कुछ विद्वानों ने जय विजय कथा को दैन्य घाट की, जंलधर कथा को कर्मघाट की, नारदमोह कथा को भक्तिघाट

की और स्वायंभुव मनु की कथा को ज्ञान घाट की कथा का हेतु कहा है। स्वर्गीय बाबू रामदास गौड़ प्रभृत्ति सज्जनों ने चार घाटों की मूल भूत इन कथाओं के चार आराध्य भी भिन्न-भिन्न माने हैं। एक के आराध्य हुए साकेत बिहारी राम, एक के आराध्य हुए क्षीरशायी राम, एक के आराध्य हुए परात्पर राम, आदि आदि। अवधवासी लाला सीताराम सरीखे सज्जनों को तो यह भिन्नता यहाँ तक रुची है कि उन्होंने मानसी रामकथा के शंकर में शंकराचार्य के सिद्धान्तों का, लक्ष्मण में रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों का और भरत में रामानन्द स्वामी के सिद्धान्तों का प्रतिपादन देखा। हम पहिले ही कह आये हैं कि गोस्वामीजी की रामकथा भक्तिशास्त्र का रूप लेकर अवतीर्ण हुई है। ज्ञान (विवेक) कर्म (वैराग्य) और दैन्य (प्रपत्ति) सभी उस भक्ति के अधीन हैं और उसके अंगरूप हैं अतएव ज्ञान, कर्म और दैन्य को भक्ति की बराबरी के स्वतंत्र घाट मानना कहाँ तक उपयुक्त होगा। इसी प्रकार भक्ति शास्त्र के इस ग्रन्थ को ज्ञान, कर्म, भक्ति और दैन्य के सिद्धान्तों का संग्रह-ग्रन्थ अथवा शंकर, रामानुज और रामानन्दी सिद्धान्तों का संग्रह ग्रन्थ अथवा चार भिन्न कथाओं का संग्रह ग्रन्थ (जिनमें हेतु भिन्न हैं और आराध्य की मर्यादा भी भिन्न-भिन्न है) बताना कहांतक उपयुक्त होगा, यह सहृदय सज्जन स्वतः समझ सकते हैं।

गोस्वामीजी के मानसस्थ मानसके चार घाट तो वे हैं जो हम पहिले कह आये हैं परन्तु यह मानस अन्यों के मानस में भी तो घर कर सकता है। वास्तव में सुजनों के लिये तो यह कविता-

रूपमें वह निकला ही है। अतः उनके दृष्टिकोण से इसके चार घाट होंगे, देव-संवाद, खग-संवाद, मुनि-संवाद और गोस्वामी-सुजन-संवाद। प्रथम तीन संवाद तो वही रहेंगे। अन्तिम संवाद (गुरु-गोस्वामी संवाद) के बदले गोस्वामी-सुजन-संवाद हो जायगा।

"कहिहउं सोई संवाद बखानी, सुनहु सकल सज्जन सुखमानी।'

ये चार घाट भक्ति शास्त्र के चतुर्विध भक्तों के अनुसार अवश्य ही आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी घाट कहे जा सकते हैं। देव-संवाद में उमा आर्त का प्रतिरूप दिखाई गई हैं।

"अति आरति पूछउं सुरराया, रघुपति कथा कहहु करि दाया।"

गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं आरत अधिकारी जहँ पावहिं।"

उनसे बढ़ कर आर्ति और किसे हुई थी। कथा के अन्त में 'क्लेशनाश' की बात ज़ोर देकर उन्हीं ने कही। "मैं कृत कृत्य भइउं अब..बीते सकल कलेस।" खग-संवाद में गरुड़ जिज्ञासु के प्रतिरूप दिखाये गये हैं। रामकी सर्वशक्तिमत्ता पर संदेह करके, अपनी जिज्ञासा में, उन्होंने कहाँ-कहाँ का चक्कर नहीं लगाया। उनकी स्थिति के विषय में शंकरजी पार्वती से कहते हैं—"नाना भाँति मनहिं समुझावा, प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा। खेद खिन्न मन तरक बढ़ाई, भयेउ मोहबस तुम्हरिहि नाईं। ब्याकुल गयेउ देवरिषि पाहीं, कहेसि जो संसय निज मन माहीं।" 'देवरिषि' नारद ने उन्हें ब्रह्मा के पास भेजा, ब्रह्मा ने शिव के पास और शिव ने भुशुण्डि के पास। तब कहीं जाकर गरुड़ की जिज्ञासा शान्त हुई और वहाँ हरिकथा सुनकर उन्होंने कहा—

"तव प्रसाद सब संसय गयऊ" अथवा "गयेउ मोर सन्देह...... तव प्रसाद वायस-तिलक।" मुनि-संवाद में भरद्वाजजी ज्ञानी के प्रतिरूप दिखाये गये हैं। गोस्वामीजी स्वतः उन्हें 'परम सुजान' का प्रमाण पत्र दे रहे हैं "तापस समदम दयानिधाना, परमारथ पथ परम सुजाना।" संवाद के वक्ता महर्षि याज्ञवल्क्य भी श्रोता का मर्म बूझ कर उन्हें "रहित समस्त विकार" प्रमाणित कर रहे हैं। "प्रथमहिं मैं कहि सिवचरित बूझा मर्म तुम्हार, सुचि सेवक तुम्ह राम के, रहित समस्त विकार।" ज्ञानी भक्त का प्रतिरूप ये न होंगे तो और कौन होगा? न उनमें आर्ति, न उनमें जिज्ञासा, न उनमें अर्थार्थित्व, इसलिये इस कथा श्रवण के बाद उनकी कृत-कृत्यता भी कहीं नहीं दिखायी गयी। वे कथा के आनन्द के लिये कथा सुनते ही रह गये। इस संवाद का कहीं उपसंहार ही न हुआ। गोस्वामी-सुजन संवाद में सुजनगण निश्चय ही अर्थार्थी श्रोता हैं। कोई कौतूहल के लिये सुनता है, कोई काव्य-रस के लिये; कोई भक्ति के लिये तो कोई मुक्ति के लिये। कोई भवसन्तरण के लिये सुनता है तो कोई हरिपद प्राप्ति के लिये सुनता है। यह कथा सब की इच्छाएँ पूर्ण करती है। "मन कामना सिद्धि नर पावा; जो यह कथा कपट तजि गावा।"

जिस मनुष्य में कर्म-शीलता विशेष होगी वह या तो इष्ट के संचय में संलग्न होगा या अनिष्ट के दूरीकरण में। इष्ट का संचयेच्छु ही है अर्थार्थी और अनिष्ट के हट जाने की इच्छा वाला ही है आर्त। जिस मनुष्य में ज्ञान-शीलता विशेष होगी वह अपूर्णावस्था में होगा जिज्ञासु और पूर्णावस्था मे होगा ज्ञानी।

भक्त के लिये भावशीलता की विशेषता तो चाहिये ही। भावशीलता के साथ ही साथ मनुष्य में कर्मशीलता और ज्ञानशीलता भी ज़ोर मारती रहती हैं। अतएव जो आर्तिनिवारण के लिये भक्ति करता है वह हुआ आर्त भक्त, जो अर्थ प्राप्ति (किसी उद्देश्य सिद्धि) के लिये भक्ति करता है वह हुआ अर्थार्थी भक्त, जो जिज्ञासा—तृप्ति के जिये भक्ति करता वह हुआ जिज्ञासु भक्त और जो सब प्रकार की कामनाओं को दूर करके, केवल कथारस के आनन्द के लिये कथा सुनाता है, भक्ति के आनन्द के लिये भक्ति करता है, वह हुआ ज्ञानी भक्त। मानस का रस इन चारों घाटों पिया जा सकता है। इन चारों प्रकार के भक्तों को पूरा सुख पहुंचाने की क्षमता इस मानस (रामचरित मानस) में है। यह बात इन चारों घाटों के रूपक से ध्वनित हो जाती है।

सरोवर का रूपक आगे बढ़ता है। केवल चार घाट ही नहीं, किन्तु सात सीढ़ियाँ भी (पैरियां भी) इस सरोवर में हैं। हिमालयस्थ मानस में सीढ़ियाँ न सही तो भी घाट से जल तक पहुंचने के लिये किसी न किसी प्रकार के आधारस्थल तो हैं ही। वे ही सोपान समझें जायं। रामायण में सोपान न होकर काण्ड हैं। आदि-रामायण में संभवतः कोई काण्ड नहीं थे। फिर पीछे, राम के अयन (पर्यटन) के अनुसार, स्थान—परक पांच काण्ड बन गये, अयोध्या काण्ड; अरण्य काण्ड, किष्किन्धा काण्ड, सुन्दर काण्ड, और लंका काण्ड। तदनन्तर चरित्र की पूर्ति के लिये दो काण्ड और जोड़ दिये गये जो काल परक थे। एक हुआ बाल-काण्ड जो जुड़ा पहिले और एक हुआ उत्तर-काण्ड जो

जुड़ा पीछे। उत्तर का अर्थ है पश्चात्। रामायण के ये सप्त प्रबन्ध प्रायः सर्व सम्मान्य बन गये। गोस्वामीजी के मानस के रूपक में काण्डों को कोई स्थान न था क्योंकि उन्होंने इतिहास तो लिखा न था जो काण्डों की चर्चा होती। अतएव उसमें चर्चा हुई सात सोपानों की और उनका नाम करण भी भिन्न प्रकार का किया गया। "सप्तप्रबन्ध सुभग सोपाना, ज्ञान नयन निरखत मन माना।" "एहि यहँ रुचिर सप्त सोपाना, रघुपति-भगति केर पन्थाना।" ये सोपान ज्ञान-नयन से निरीक्षण किये जाने योग्य हैं तभी ये मन को संतोष दे सकते हैं। ये हरि-भक्ति-प्राप्ति के साधन रूप हैं। अतएव इनको सामान्य काण्डों की दृष्टि से न देखा जाय। इन सोपानों में रामायण के काण्डों की अपेक्षा कथा की घटबढ़ भी हो गई है। उदाहरणार्थ पंचम सोपान देखिये। इसका समुद्र निग्रह अन्य रामायणों के लङ्काकाण्ड में विराजमान है न कि सुन्दरकाण्ड में।

इन सातों सोपानों के नाम क्या क्या हैं? नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित (तथा श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवान दीन, और श्री ब्रजरत्न दास द्वारा सम्पादित) रामचरित मानस के प्रथम दो सोपानों का कोई नाम ही नहीं है। तृतीय सोपान का नाम है "विमल वैराग्य सम्पादनो नाम" चतुर्थ का विशुद्ध सन्तोष सम्पादनो नाम" पंचम का है "ज्ञान सम्पादनो नाम" षष्ठ का है "विमल विज्ञान सम्पादनो नाम" और सप्तम का है "अबिरल हरि भक्ति सम्पादनो नाम।" श्री डाक्टर माताप्रसाद जी गुप्त द्वारा हाल ही में संशोधित और सम्पादित रामचरित

मानस का भी यही क्रम है। अन्तर है तो यही कि पंचम सोपान का नाम "ज्ञान सम्पादनो" न होकर "विभक्त ज्ञान सम्पादनो" रखा गया है। जब कि पाँच सोपनों के नाम दिये हुए मिलते हैं तब यह विश्वास नहीं होता कि गोस्वामीजी ने पहिले दो सोपानों के नाम ही न दिये हों। रामचरित मानस की एक पोथी और है जिसे बाबू रामदास गौड़ ने पुरानी प्रमाणित प्रतियों के आधार पर सम्पादित किया है, उस पोथी में प्रथम सोपान है "विमल सन्तोष सम्पादनो नाम" और द्वितीय सोपान है "विमल विज्ञान वैराग्य सम्पादनो नाम।" शेष क्रम डाक्टर माता प्रसाद जी गुप्त वाली पोथी का सा है। प्रत्येक सोपान में पूरी पंक्ति इस प्रकार है :—इति श्रीमद् रामचरित मानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने ·· ··········नाम················सोपान समाप्तः। पंक्ति का सार यह निकला कि कलि कलुष विध्वंसिनी इस राम कथा के एक एक प्रकरण अथवा प्रबन्ध से एक एक गुण सम्पादित करना चाहिये। वे गुण ऐसे हैं कि शिव के मानसस्थ मानस के सुधा-स्वादीय रस तक प्रत्येक मनुष्य के मानस को भली भांति पहुचा सकते हैं। इसीलिये वे सोपान रूप हैं। एक के बाद एक गुण ग्रहण करते चले जाइये, आप अमृत-रस तक निश्चय ही पहुँच जायँगे। गोस्वामी जी की राम कथा पढ़ी सुनी जाय तो इन गुणों के सम्पादन की दृष्टि से ही पढ़ी सुनी जाय। इसलिये उसके गाने का क्रम रखा गया ताकि वह भली भांति गुनी जा सके—उसका भली भांति मनन किया जा सके—और मनन की दिशा हो यही 'सम्पादनो नाम' वाली।

सात सोपानों में प्रथम चार हैं वैराग्य विषयक, बाद के दो सोपान हैं विवेक विषयक और अन्तिम है भक्ति विषयक। "श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संयुत विरति विवेक।" यही तो गोस्वामी जी का प्रतिपाद्य विषय था। उनकी भक्ति, विरति और विवेक लेकर चलती है। विरति अथवा वैराग्य के रूप हैं चार। "विमल संतोष" हुआ तृष्णा के प्रति वैराग्य। जिसका अर्थ ही है सूझ बूझ वाला वैराग्य। "विमल वैराग्य हुआ विभवभोगों के प्रति वैराग्य। और "विशुद्ध सन्तोष" हुआ अकर्मण्यता के प्रति वैराग्य।

प्रथम सोपान की कथा बताती है कि मनुष्य की जो तीन प्रबल तृष्णाएँ हुआ करती हैं, अर्थात् आहार, विहार और समाज-प्रियता, अथवा कांचन कामिनी और कीर्ति की तृष्णा, (तथा जो वित्तैषणा, पुत्तैषणा, और लोकैषणा भी कहाती हैं), वे राम के आचरण को कभी विचलित नहीं कर पाईं। जब राम विश्वामित्र के साथ तपोवन गये तब वे किसी शरीर सुख अथवा वैभव की तृष्णा के कारण तो आगे बढ़े न थे। परन्तु परिणाम यह हुआ कि उन्हें बला अतिबला आदि विद्याएँ मिलीं जिन्होंने आहार, और आहार का साधन कांचन, सभी पर उनकी विजय दिलाई। "तब रिषि निजनाथहिं जिय चीन्हीं विद्यानिधि कहं विद्यादीन्ही, जाते लाग न छुधा पिपासा, अतुलित बल तनु तेज प्रकासा।" राम जनकपुरी गये तो केवल विश्वामित्र की इच्छा से न कि धनुष यज्ञ में विजयी होकर कामिनी वरण की प्रेरणा से। जबतक सब राजागण थक नहीं गये और मुनिका आदेश नहीं हो गया तबतक उन्होंने न

धनुष छुवा न छूने की इच्छा प्रगट की। परन्तु परिणाम यह हुआ कि उन्हें कमनीय कीर्ति के साथ श्री विदेहनन्दिनी सीता की भी प्राप्ति हो गई। आगे देखिये, उस समय के विश्व के एक मात्र विजेता परशुराम से जब राम का मुकाबिला हुआ तब कीर्ति की तृष्णा राम के आचरण को किसी भी प्रकार चलायमान न कर पाई। परशुराम अपने क्रोध पर, बल के गर्व पर, अड़े रहे और राम अपनी शान्ति पूर्ण नम्रता पर! "सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे, मारत हू पाँ परिय तुम्हारे।" इसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें वैष्णवावतार की प्रखर कीर्ति अनायास मिल गई और परशुराम सरीखे उग्र तपस्वी भी उनका जय-घोष करते चले गये। जो मनुष्य मानस का दिव्य रस पान करना चाहता है उसे सर्व प्रथम तृष्णा-त्याग का गुण सम्पादित करना चाहिये। आप त्याग की शक्ति सम्पादित कीजिये फिर तो भोग आपके पास अनेक गुण अधिक रूप में दौड़ा दौड़ा चला आवेगा। वर्तमान पर संतोष रखना और भविष्य के लिये हाय हाय न करना, यही तृष्णा-त्याग का तरीका है। यही विमल संतोष है। प्रथम सोपान में किसका सन्तोष नहीं सधा? राजाओं की (दशरथ तथा जनक की) संतोष-सिद्धि देखिये, मुनियों (विश्वामित्र परशुराम आदि) की संतोष-सिद्धि देखिये, नागरिकों और तपोवन-वासियों की संतोष-सिद्धि देखिये, उपेक्षिता अहल्या और प्रत्यक्ष-लक्ष्मी सीता की सन्तोष-सिद्धि देखिये। फिर इस चरित्र के मनन से भी "विमल सन्तोष" न होगा तो समझना चाहिये कि वह मनन ही व्यर्थ गया।

द्वितीय सोपान की कथा बताती है कि भगवान् और उनके भक्त ने—राम और भरत ने—किस सूझ बूझ के साथ वसुन्धरा के समग्र ऐश्वर्य के प्रति भी अपनी अनासक्ति दिखाई। सत्य क्या है, तत्व क्या है, धर्म क्या है, कर्तव्य और प्रेम (धरम स्नेह) का द्वन्द उपस्थित करने वाली विषम परिस्थिति को कैसे सँभाला जाय, यही सब समस्याएँ तो द्वितीय सोपान के चरित्र की समस्याएँ हैं। इस सोपान की कथा में किसने क्या नहीं खोया और किसको क्या नहीं त्यागना पड़ा ? चक्रवर्ती नरेश ने प्राण खोये, कामना-शीला कैकेयी ने सारे मनसूबे खोये, माताओं ने लाड़िला लाल खोया, वनगामियों ने शरीर के सब सुख और राज्य के सब विभव खोये यह अनासक्तिमय त्याग और वैराग्य किस कर्तव्य के संग्रह तथा अनुराग के लिये हुआ, यह भी देखा जाय। यह दर्शन 'ज्ञान-नयन निरखत मन माना' होगा। द्वितीय सोपान इसीलिये तो "विमल विज्ञान वैराग्य सम्पादनो नाम" कहा गया है।

तृतीय सोपान की कथा बताती है कि भगवान राम ने विभव के प्रति अनासक्ति ही नहीं दिखाई किन्तु कुछ दिनोंतक उसे दूर भी हटा दिया। वैराग्य की यही तो अग्नि-परीक्षा थी। विश्व-लक्ष्मी को वैराग्य की अग्नि में तपाकर शुद्ध कर लेने का यही अभिप्राय है। जगदम्बा जगत् लक्ष्मी परन्तु साथ ही राम की अर्धाङ्गिनी गृह-लक्ष्मी के कुछ दिनों तक अग्नि में निवास करने का यही तो संकेत था। व्यवहार में राम सीता का अन्वेषण करते दिखाई देते हैं परन्तु उसी स्थिति में जब प्रसङ्ग आता है तो

नारद सरीखे देवर्षि को भी "माया रूपी नारि" के विरूद्ध चेतावनी देते जाते हैं। वास्तव में उनका वियोग किससे था? छाया सीता तो एक लीला मात्र थीं। विभव भोगों के प्रति वैराग्य सम्पादन करने के लिये इस चरित्र का मनन किया जाय। इसी में लक्ष्मण के प्रति कही गई गीता है। इसी में शबरी के प्रति कही गई नवधाभक्ति है। इसी में नारद के प्रति कहे गये सन्तों के लक्षण हैं। "विमल वैराग्य सम्पादन" के लिये ये सभी सहायक हैं।

चतुर्थ सोपान की कथा बताती है कि वैराग्य विभव से हो, भोगों से हो, किन्तु कर्तव्य-कर्मों से न हो। राम ने राज्य छोड़ा, सीता को भी पावक में रख दिया, किन्तु सर्वत्यागी बनकर कर्म त्यागी नहीं बन गये। कर्तव्य-कर्मों के प्रति उदासीन हो जाना वैराग्य नहीं किन्तु एक प्रकार का मोह है। वह है त्याग की आसक्ति। त्याग अथवा वैराग्य के प्रति आसक्ति बनी रही तो फिर विशुद्ध वैराग्य—विशुद्ध सन्तोष—कैसे होगा। इसीलिये परम त्यागी होकर भी राम ने न तो सीतान्वेषण की अपनी लीला ही त्यागी और न इस प्रसङ्ग में बालिवध, सुग्रीव राजतिलक, बानर संप्रेषण आदि के कर्तव्य कर्मों में उदासीनता दिखाई। वैराग्य का अर्थ अकर्मण्यता नहीं। यदि अकर्मण्यता के प्रति वैराग्य न होगा तो पूर्वकथित तीनों प्रकार के वैराग्य निष्फल समझिये। यह ठीक है कि राम को सीता के अन्वेषण की आवश्यकता न थी, वे छाया-सीता का पता तो एक प्रकार से पाही गये थे; परन्तु यह भी तो ठीक है कि राम

को व्यक्ति के काम क्रोध का उदात्तीकरण करके दिखाना था। सामान्य काम को 'चरित्राणाय साधूनां' (सज्जन त्राण, न कि केवल सीता का परित्राण) और सामान्य क्रोध को 'विनाशाय च दुष्कृताम्' (दुष्कृत्यों के अभ्यासी खलों का विनाश न कि केवल रावण का दमन) का रूप देकर प्रगट करना था। ये भावनाएँ समाज की कल्याणमयता का रूप लेकर निखरीं और उनकी पूर्ति में नर ही नहीं वानर तक सहयोगी हुए। इसके लिये, अकर्मण्यता ही से वैराग्य अपेक्षित था। विशुद्ध संतोष वह है, जिसमें मनुष्य तृष्णाहीन, आसक्तिहीन, भोग भावनाहीन होता हुआ भी कर्तव्यशील बना रहे—निष्काम कर्मी बना रहे। यही अनासक्ति योग है। इसीका नाम है विशुद्ध संतोष। न लौकिक आसक्ति में किसी प्रकार का संतोष है त अकर्मण्यता में। दोनों का त्याग है "विशुद्ध संतोष"। चतुर्थ सोपान की कथा से मनुष्य इसी भावना का सम्पादन करे।

पञ्चम सोपान की कथा इस प्रकार है कि उसके अनुशीलन से विमल ज्ञान का सम्पादन अनायास हो सकता है। ज्ञान में आराधक, आराधना और आराध्य का विवेचन स्वाभाविक है। इस सोपान के तीन प्रकरणों से इन तीनों का अच्छा विवेचन हो जाता है। पहिला प्रकरण है हनुमान के सीतान्वेषण सम्बन्धी कृत्यों का। दूसरा प्रकरण है विभीषण-शरणागति का। तीसरा प्रकरण है समुद्र-निग्रह का। इन तीनों में आराधक की छटा देखिये। "विषयी साधक सिद्ध सयाने, त्रिविध जीव जग वेद बखाने।" समुद्र है विषयी जीव जिसका निग्रह किया गया। विभीषण है

साधक जीव जिसने शरणागति की साधना की और सिद्धि पायी। हनुमान हैं सिद्ध जीव जिनका अवतार ही राम-काज के लिये हुआ था। इन तीनों में आराधना (अर्थात् उत्क्रान्ति मार्ग) की भी छटा देखिये। उस मार्ग में कृति, भावना और विचार का सम्मिश्रण होगा ही। कृति ऐसी हो जिसमें भवसागर तक का निग्रह हो जाय। यह समुद्र-निग्रह में देखिये। भावना ऐसी हो जिससे शरणागति सहज सिद्ध हो जाय और जीव निर्मल निश्छल मन से कह उठे "उर प्रथम वासना रही, प्रभुपद-प्रीति-सरित सो बही।" यह विभीषण-शरणागति में देखिये। विचार ऐसा हो जिसकी गति को सतोगुण रूपी सुरसा, तमोगुण रूपी सिंहिका और रजोगुण रूपी लङ्किनी, कोई भी शक्तियाँ रोक न सकें और वह अशोक वन तक पहुंचकर सर्वश्रेयस्करी सीता-शक्ति का पता लगा ही ले। यह हनुमत् चरित्र में देखिये। फिर, इन तीनों प्रकरणों में आराध्य की भी छटा देखिये। आराध्य में अनन्त शक्ति, अनन्त शील, अनन्त सौन्दर्य होना ही चाहिये। सौन्दर्य का ही भावात्मक रूप है प्रेम। आराध्य राम के प्रेम-सौन्दर्य का चित्रण हनुमत् प्रसङ्ग में देखिये, शील का चित्रण विभीषणोपाख्यान में देखिये, शक्ति का चित्रण समुद्र-निग्रह में देखिये। "विमल ज्ञान" के सम्पादन के लिये और क्या चाहिये।

षष्ठ सोपान की कथा इस प्रकार है कि उसके अनुशीलन से विमल विज्ञान का सम्पादन अनायास हो सकता है। प्रयोगात्मक ज्ञान ही को विज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान से हम तत्व-साक्षात्कार कर लें वह हुआ "ज्ञान" और जिससे हम तत्व-साक्षात्कार करके

मोह-मद इत्यादि का विनाश कर सके वह हुआ विज्ञान। दसों इन्द्रियों द्वारा संसार के भोग भोगनेवाला, अथवा "सुख सम्पति, सुत, सेन, सहाई, जय, प्रताप, बल, बुद्धि, बड़ाई" इन दसों भोगायतनों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेवाला, महामोह ही तो रावण है। गोस्वामीजी के आराध्य द्वारा यह रावण किस प्रकार सपरिवार विध्वंस हुआ यही तो षष्ठ सोपान की कथा है। इसी में तो उस अजेय धर्मरथ की चर्चा है जिस पर आसीन हो जाने से फिर कोई विजेतव्य रह ही नहीं जाता। अतः इसका "विमल-विज्ञान सम्पादन" नाम सर्वथा उपयुक्त ही रखा गया है।

सप्तम सोपान की कथा स्वभावतः ही अविरल भक्ति सम्पादिनी है। रामराज्य का रूप इसी कथा में प्रस्फुटित किया गया है, वह रामराज्य जिसे छोड़कर भगवान् कहीं गये ही नहीं। जीव एक बार उस आनन्द तक पहुँच जाय फिर वहाँ से हटने का नाम न लेगा। अविरलता वहीं तो है। फिर, उपसंहार रूप में भुशण्डिजी ने इस सोपान में भक्तिरस की जो पीयूषवर्षा की है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनके अनेक जन्मों का मधुर और महत्वपूर्ण अनुभव उसमें भरा है। रावण-राज्य का कलियुगी वर्णन एक ओर और रामराज्य का सतयुगी वर्णन दूसरी ओर। दोनों ही इसी एक सोपान में विलस रहे हैं और भक्तिरस के परिपाक के लिये अच्छी सामग्री दे रहे हैं। प्रत्येक दृष्टि से इसका "अविरलभक्ति सम्पादन" नाम सार्थक है।

सातों सोपानों का क्रम भी ठीक-ठीक ही बँधा है। पहिले विमल सन्तोष प्राप्त किया जाय (भविष्य के प्रति अनासक्ति हो

और वर्तमान में सन्तोष माना जाय।) फिर विमल विज्ञान वैराग्य हो (अर्थात् प्रयोगात्मक रूप से वर्तमान के प्रति भी अनासक्ति रखी जाय) फिर विमल वैराग्य हो (विभवों और भोगों का, कमसेकम कुछ काल के लिये, एकदम परित्याग ही कर दिया जाय) फिर विशुद्ध सन्तोष हो (कर्तव्यनिष्ठा के आगे त्याग वृत्ति के भी त्याग में सच्चा सन्तोष माना जाय) फिर विमल ज्ञान को हृदयंगम करके आराध्य तत्व का स्पष्टीकरण किया जाय, फिर अपने वातावरण में उस ज्ञान का प्रयोग करके विमल विज्ञान के दर्शन किये जायँ। इस प्रकार विरक्ति और विवेक से संयुक्त होकर सब सच्ची अविरल भक्ति का सम्पादन किया जाय।

आश्चर्य है कि मानस-प्रेमियों और गोस्वामीजी के अध्ययनशील विद्यार्थियों का ध्यान सोपानों के इस नामकरण की ओर अब तक पूरी तरह क्यों नहीं गया। यह नामकरण ही बताता है कि मानस का अध्ययन तथा पारायण किस दृष्टिकोण से किया जाय। जिसने इस नामकरण की अवहेलना करके सातों प्रबन्धों को सातों काण्डों का नाम दे दिया है और उन्हीं नामों से इन सोपानों का प्रचलन करा दिया है उसने गोस्वामीजी के साथ निश्चय ही अन्याय किया है, ऐसा समझना चाहिये।

मानस के विद्वान् श्री विजयानन्द त्रिपाठी ने सातों सोपानों को सातों पुरियों की भाँति मुक्ति का प्रापक बताया है। सप्त सोपानों की तुलना सप्त पुरियों से करना एक सुन्दर कल्पना है। परन्तु यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि, स्वतः गोस्वामीजी के मन में कभी यह कल्पना इस रूप में उठी होगी। चतुर्थ सोपान

के आरम्भ में काशी की वन्दना अवश्य है अतएव सम्भव है कि गोस्वामीजी ने भी कुछ इसी तरह सोचा हो। फिर भी केवल मुक्ति की प्रापकता नहीं, किन्तु उन सातों पुरियों द्वारा, क्रमशः उन सातों सद्‌गुणों की प्रापकता भी बता दी जाती जिनके सम्पादन के लिये सोपानों का नामकरण हुआ है, तो तुलना में रोचकता अधिक आ जाती।

प्रथम सोपान में रामजन्म की कथा है अतः उसकी भूमि स्पष्ट ही अयोध्या हुई। अयोध्यापुरी राम के वैभव की स्मृति दिलाकर विमल सन्तोष देती ही है। "विमल सन्तोष" न हुआ तो अयोध्यापुरी के दर्शन करना न करना एक बराबर है। यह गुण-सम्पादन करना ही तो इस पुरी की यात्रा का फल है। द्वितीय सोपान में राज वैभव त्यागकर भगवान के प्रस्थान की कथा है अतः उसकी भूमि (क्रियाभूमि नहीं किन्तु तुलनाभूमि) स्पष्ट ही मथुरापुरी हुई जिसका राजसी वैभव त्यागकर भगवान श्री कृष्ण द्वारका की ओर चले गये थे। "विमल विज्ञान वैराग्य सम्पादन" के लिये यही पुरी सर्वथा उपयुक्त है। तृतीय सोपान में आदि-शक्ति सीता का अग्नि-निवास और माया सीता के प्रादुर्भाव की कथा है अतः उसकी भूमि (घटनास्थली नहीं किन्तु तुलनास्थली) निश्चय ही माया (हरद्वार) पुरी हुई जहाँ आदिशक्ति सती ने अपने को अग्नि के समर्पण कर शिव का परम वैराग्य स्पष्ट किया था। "विमल वैराग्य सम्पादन" ही इस पुरी का विशेष फल है। चतुर्थ सोपान की कथा में रुद्रावतार मारुति का अविर्भाव हो जाता है और त्याग तथा कर्मण्यता से भरी भगवान राम की लीला

आगे बढ़ती है। इस सोपान की भूमि के लिये त्याग तथा कर्मण्यता के इतिहास से भरी काशीपुरी ही उत्तम उपमान हो सकती है जो सदा-शिव की साक्षात् नगरी है और "विशुद्ध सन्तोष" की देनेवाली है। पञ्चम सोपान की कथा में पूर्वचरित शंकरावतार मारुति का है और उत्तर चरित महाविष्णु अवतार परमशरण्य राम का है जिन्होंने विभीषण को शरणागति दी। अतः इसकी भूमि निश्चय ही काञ्चीपुरी से उपमित होगी जो पूर्व और अपर (उत्तर) के भेद से शिव-कांची और विष्णु-कांची के नाम से प्रसिद्ध हैं। भक्ति-शास्त्र के आचार्यों की सुप्रसिद्ध गद्दी होने के कारण "विमल ज्ञान सम्पादन" के सम्बन्ध में इसी पुरी का नाम लिया जा सकता है। गोस्वामीजी के समय तो लगभग ऐसी ही स्थिति रही होगी। पष्ठ सोपान में प्रत्यक्ष ही महाकाल के ताण्डव की कथा है। राम-रावण युद्ध महाकाल का ताण्डव नहीं तो और क्या था। अतः उसकी भूमि की तुलना महाकाल महादेव की नगरी अवन्तिका पुरी से ही की जा सकती है।

मांत्रिकों, तांत्रिकों और विक्रम के नवरत्नों से रंजित यह पुरी "विमल ज्ञान सम्पादन" में अद्वितीय रही ही है। यह गुण न मिला तो इस पुरी की यात्रा से क्या लाभ? सप्तम सोपान में भगवान् के राज्य भाग और राज्य शासन की कथा है। ठीक ऐसी ही कथा भगवान् द्वारकाधीश की द्वारावती पुरी से सम्बद्ध है। "अविरल भक्ति सम्पादन" के लिये सप्त पुरियों में इसी का नाम सबसे पहिले गिनाया जा सकता है। अतः सातवें सोपान की भूमि की समता में इसी पुरी की पवित्रता का स्मरण किया गया।

सातों पुरियों का क्रम भी वही है जो सप्त सोपानों का है। "अयोध्या मथुरा माया, काशी कांची, अवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव, सप्तैताः मोक्षदायिकाः।"

यह आवश्यक नहीं कि परमपद के पीयूषरस की प्राप्ति के लिये सातों पुरियों का क्रम बद्ध भ्रमण अथवा सातों सीढ़ियों का क्रम बद्ध अतिक्रमण किया जाय। जो जिस भूमिका का जीव होगा उसको वहीं से आगे बढ़ना पड़ेगा। मानस में जब भाव का प्रवाह अपनी पूर पर होगा तब संभव है एक भी सीढ़ी पूरी तरह लांघने की आवश्यकता न पड़े और उस ओर कदम बढ़ाते ही रस मिलने लग जाय। जिस पर भगवान् की कृपा नही हुई है उसके लिये यह भी संभव है कि वह सातों सीढ़ियां पार कर जाय और फिर भी उसे एक बूँद भी जल तक न मिले। वह प्यासा का प्यासा रह जाय और मानस को दुर्वचन कहता हुआ लौट पड़े। परन्तु संसार में यही देखा गया है कि जिसे अपनी प्यास का अनुभव होता है वह अकसर जल पा ही जाता है। अतः मानस के रस से संभवतः वही वंचित रह सके जिसे अपनी प्यास का ही अनुभव न हो रहा हो। गोस्वामी जी के मानस ने तो ऐसी सामग्री भी देदी है जिससे मानस—रोगी अपनी भूख प्यास का भी सही सही पता पा सकता है और उसके निवारण के लिये उपयुक्त रस भी प्रचुर मात्रा में पा सकता है। आवश्यकता है कि श्रद्धापूर्वक, कम से कम एक बार तो, इस मानस की यात्रा कर ही ली जाय।

(३) उसमें भगवान् और उनके भक्तों ही की चर्चा है।

जब रामचरित-मानस एक भक्ति शास्त्र है तब स्वभावतः ही हम उसे एक नर काव्य नहीं कह सकते। अतएव नर चरित्र कितने ही उदात्त हों, यदि उनका राम से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है तो उनका वर्णन मानस में कैसे स्थान पा सकता था? उर्मिला की उपेक्षा का यही रहस्य है। प्रभुचरित्र का भी वही अंश ग्राह्य होगा जो भक्ति का प्रवर्तक और भक्ति शास्त्र के सिद्धान्तों का समर्थक हो। सीता के हरण की कल्पना ही भक्ति-शास्त्र के लिये असंगत थी क्योंकि वे तो भगवान् की मूर्तिमती कृपा हैं। वे उनसे भिन्न कब और कैसे हो सकती हैं। "गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।" कहने के लिये ही राम और सीता दो हैं; जसे, वाणी और उसका अर्थ, जल और उसकी तरंग; परन्तु वस्तुतः हैं वे अभिन्न। फिर उनका वियोग कैसे। इसलिये तात्विक सीता पावक में गुप्त होकर साथ रहीं और प्रभुलीला के माधुर्य के लिये छाया—सीता का अपहरण हुआ। अन्त में राज्याभिषेक के बाद सीता—परित्याग का प्रसङ्ग साफ़ उड़ा दिया गया, शंबूकवध का प्रसङ्ग साफ़ उड़ा दिया गया और राम के निजधाम गमन का प्रसङ्ग भी साफ़ उड़ा दिया गया। कथा को इस दृष्टिकोण से देखने पर ही हम लोग समझ सकेंगे कि "सूर्पणखा रावण की बहिनी, दुष्ट हृदय दारुन जिमि अहिनी" अपनी नाक कटवाते समय भक्ताग्रणी लक्ष्मण का कर-स्पर्श पाकर किस प्रकार अन जाने ही रावण की सभा में, बिना किसी झिझक के, "हरिहिं समर्पे बिनु सतकर्मा" सरीखे ठेठ वैष्णव-नीतिवाक्य कह जाती है।

मानस में राक्षसों की चर्चा अनिवार्य थी। परन्तु गोस्वामी जी ने उन्हें भी भक्त बनाकर ही चित्रित किया है। जो प्रेम भाव से स्मरण करे वह भी भक्त और जो बैर भाव से स्मरण करे वह भी भक्त। तन्मयता तो दोनों अवस्था में आती ही है और यह तन्मयता ही मुक्ति के लिये असली वस्तु है।" "कीट को भ्रमर ध्यायन् भ्रमरत्वाय कल्पते।" इसी तन्मयता के कारण तो राक्षसों की सद्‌गति हुई। 'रामाकार भये तिनके मन।" इसीलिये तो गोस्वामी जी ने कहा है "येहि लागि तुलसीदास इन्हकी, कथा कछुयक हैं कही; रघुवीर-सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।" खर-दूषण आदि राम के सौन्दर्य से आकृष्ट हो ही गये थे। मारीच, कालनेमि, कुंभकर्ण, त्रिजटा, मन्दोदरी, प्रहस्त, विभीषण आदि तो स्पष्ट ही भक्त बताये गये हैं-प्रेम भाव वाले भक्त। मेघनाद ने भी "मरती बार कपट सब त्यागा। रामानुज कहँ राम कहँ अस कहि छांडेसि प्रान।" और अन्त समय के उसके इस नाम-स्मरण के कारण ही "धन्य धन्य तव जननी, कह अंगद हनुमान।" रहा रावण, सो उसकी प्रच्छन्न भक्ति भी परम दर्शनीय है। खरदूषण के निधन का हाल सुनकर उसने जो स्वगत कथन किया है वह इस सम्बन्ध में बहुत महत्वपूर्ण है। उसने सीता हरण के समय लक्ष्मण की बांधी हुई रेखा (मर्यादा) का उल्लङ्घन नहीं किया, सीता के डांटने पर "मन महँ चरन बंदि सुखमाना", सीता को रखा अशोक वाटिका में न कि अपने महलों में, और जब कभी उनके पास गया तब प्रधान महिषी मन्दोदरी को साथ लेकर। उसकी मृत्यु होनी थी मानव के हाथ से अतः

जब तक वह रामके मानवत्व और ईश्वरत्व की दुविधा में पड़ा रहा तब तक बचता रहा और जब पूरी तन्मयता वाले बैर भाव से पुकार उठा "कहाँ राम रन हतौं प्रचारी" उसी दिन उसकी मुक्ति हो गई और "तासु तेज़ समान प्रभु आनन।"

विश्वामित्र ने राम के लिये जनक से ठीक ही कहा था कि "ये प्रिय परम जहा लगि प्रानी।" अयोध्यावासी, मिथिलावासी शृंगवेरपुरवासी, किष्किन्धावासी, सभी तो मुग्ध थे उन पर। 'सुरनरमुनि' सब उन पर सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर थे। पशुपक्षी और सागर के जल तन्तु ही की कौन कहे, स्थावर लता वृक्ष तक उनसे आकृष्ट थे। "सब तरु फरे रामहित लागी"। उनके वनगवन का करुण प्रसंग जिन दो नारियों के कारण घटित हुआ उन कैकेयी और मंथरा के संवाद में भी गोस्वामी ने "तुम्हहिं सोहाइ मोहिं सुठि नीका" कहलाकर राम की सर्वप्रियता का संकेत कर ही दिया है। वे इतनी कठोर हृदय हो ही कैसे सकती थीं कि राम को वन भेजवा दें। वे तो देवताओं की प्रेरणा से विवश थीं। देवता भी तो राम के भक्तों की ही कोटि में हैं, अतएव वे भी दोष के भागी नहीं। वे जानते हैं कि भगवान राम को न वनगमन में विस्मय और न राज-वैभव में हर्ष है (विस्मय हरस रहित रघुराऊ) और दशरथादिक जीव तो अपने कार्यानुसार दुख का भोग करने ही वाले हैं (जीव करम बस सुख दुख भागी); अतएव जो होनहार बात है वह होकर ही रहने वाली है। तब फिर यह सब नियति चक्र का खेल था—भगवान् की लीला थी—इसके लिये किसको क्या दोष दिया जाय।

भगवान् का लीला–विलास भक्तों के आनन्द ही के लिये तो हुआ करता है। यदि उस लीला में किसी भक्त को कभी दुख भी पहुंच जाता है तो वह भविष्य के सुख की रस-वृद्धि के लिये ही होता है। "जो अति आतप व्याकुल होई, तरु छाया सुख जानइ सोई।" राम लीला भी भक्तों के आनन्द के लिये हुई। कौन कौन ऐसे विशिष्ट भक्त हैं जिनके आनन्द के लिये यह लीला हुई?

सभी भक्तों के प्रतीक हैं भरत; भक्ति की प्रतीक हैं श्री सीता जी; और सद्गुरू के प्रतीक शंकर। "भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक।" आराध्य का यह चतुर्व्यूह अपनी परम पूर्णता के साथ गोस्वामी जी की इस कथा में प्रकट हुआ है। सीता जी तो रामलीला की अधिष्ठात्री देवी हैं। उन्हीं के कारण तो यह लीला चली है। शंकर जी है इस लीला के आदि-प्रवर्तक हैं, आदि-आचार्य हैं। भरत जी ही लीला की रस-माधुरी का रूप स्पष्ट करने वाले हैं। "प्रेम अमिय मंदर विरह, भरत पयोधि गंभीर, मथि प्रगटे सुरसाधुहित, कृपा सिंधु रघुबीर।" अन्य अनेक भी उल्लेखनीय ही हैं लक्ष्मण जी भगवान के ही दूसरे रूप हैं। वे शेषावतार हैं जिनका भार दूर करने के लिये रामावतार हुआ था। दशरथ, कोसल्या, मनु और शतरूपा के प्रतिरूप हैं जिनकी प्रार्थना पर रामावतार हुआ था। रावण और कुंभकर्ण भगवान के ही द्वारपाल थे, जिनके शाप मोचन के सिलसिले में रामावतार हुआ था। नारद आदि महर्षिगण, इन्द्र आदि देवगण सभी तो रामावतार के कारण रूप हुए थे। रीक्ष और

बानर भी देवों के दूसरे रूप समझिये। इन सभी भक्तों के आनन्द के लिये भगवान् की लीला हुई। इसको निमित्त मानकर कथा-रस का पान करने वाले प्रत्येक युग के सज्जनों के आनन्द के लिये यह लीला हुई। कहने सुनने के आनन्द के लिये यह लीला हुई।

"सब जानत प्रभु प्रभुता सोई तदपि कहे बिनु रहा न कोई
तहाँ बेद अस कारण राखा, भजन प्रभाउ भाँति बहु भाखा॥"

संतों ने इसलिये तो अपने ज्ञान के सहारे ब्रह्म को मथकर यह कथा-सुधा निकाली है। (ब्रह्म पयोनिधि, मंदर ज्ञान, सन्त सुर आहि, कथा सुधा मथि काढ़इ, लगति मधुरता जाहि)। सन्तों ने क्या निकाली, ब्रह्म ने मानों स्वतः प्रकट कर दिया।

फिर भी, गोस्वामीजी की रामकथा के क्रम में, विचारकों ने ऐसे भक्तों का क्रम भी पाया है जो एक एक प्रकार की भक्ति के प्रतीक कहे जा सकते हैं। "मानस प्रसंग" में श्री विजयानन्द त्रिपाठी ने लिखा है कि मानस के सात सोपान उन चौदह प्रकार के भक्तों की चर्चा के ही सोपान है जो महर्षि वाल्मीकि प्रोक्त चतुर्दशधा प्रेमाभक्ति के उदाहरण स्वरूप कहे जा सकते हैं। गोस्वामीजी की इसी रामकथा में, राम ने, जब वन-पर्यटन के समय, महर्षि वाल्मीकि से अपने निवास योग्य स्थान पूछा तब महर्षि ने पहिले उन्हें चौदह स्थान चौदह प्रकार के भक्तों के हृदय ही बताये। त्रिपाठीजी के मतानुसार वे चौदह भक्त हैं:—
(१) रामकथा के श्रोता (भरद्वाज और उमा) (२) मनु शतरूपा, दशरथ, जनक, तथा विदेह राज समाज, (३) अयोध्या वासी

(४) भरत (३) ऋषि लोग (६) नारद (७) सुग्रीव (८) दक्षिण की ओर खोज में जाने वाले चौदह वानर सुभट (९) हनुमान (१०) विभीषण (११) समुद्र (१२) रामरावण युद्ध के वानर-गण (१३) सनकादिक और (१४) भुशुंडिजी। त्रिपाठीजी लिखते है कि "सभी भक्त इन चौदह में से किसी एक या एकाधिक के अनुयायी हैं। इन्हीं भक्तों के प्रीत्य रामजी शरीर धारण करते हैं और उनकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं वस्तुतः भगवान् की भक्तों के साथ क्रीड़ा ही सगुण लीला है।" "सातों काण्ड के पूर्वार्ध, और उत्तरार्ध में एक एक प्रकार के भक्तों का वर्णन है। इस प्रकार से सम्पूर्ण ग्रन्थ में चौदह प्रकार के भक्तों का वर्णन पाया जाता है।"

यह क्रम त्रिपाठीजी सदृश विचारकों का ही सोचा हुआ कहा जा सकता है न कि गोस्वामीजी का, क्योंकि उनकी रामकथा का क्रम इस आधार को लेकर पल्लवित हुआ हो ऐसा जान नहीं पड़ता। फिर इन उदाहरणों में भी समुद्र और बानरगण के उदाहरण षष्ठ सोपान (लंका काण्ड) के लिये रखाना कहाँतक उचित है यह विद्वज्जन ही जानें। समुद्र के बदले सद् राक्षसवृन्द क्या अधिक उपयुक्त न होते ? समुद्र की भक्ति भावना तो पंचम सोपान (सुन्दर काण्ड) तक ही सीमित रह जाती है। षष्ठ सोपान (लंकाकाण्ड) में वह प्रायः एक जड़ वस्तु मात्र रह जाता है।

वस्तुतः चतुर्दशधा भक्तों की चर्चा तो गोस्वामीजी की एक काव्य-छोटा मात्र है जिसमें चौदह वर्षों के वनवास और चौदह भुवनों के निवास-स्थान की कल्पना की जोड़ पर वाल्मीकिजी ने

भी चौदह भक्त-हृदय गिना दिये। भक्ति के भेदों की चर्चा में तो प्रायः सर्वत्र नौ की गिनती ही गिनाई गई है। पुराण-प्रसिद्ध नवधाभक्ति है "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनं, अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्" गोस्वामीजी ने भी "श्रवणादिक नव भक्ति दृढ़ाही" कह कर इसका स्मरण किया है। अध्यात्म रामायण के आधार पर उन्होंने भक्ति के नौ भेदों की एक दूसरी सूची भी दी है। तीसरे सोपान में दो-दो स्थलों पर यही सूची भगवान् राम के मुख से निर्गत हुई है! एक स्थल है लक्ष्मण के प्रति कही हुई उक्ति का, जिसमें यह सूची सम्मिलित है; और एक है शबरी के प्रति कही हुई उक्ति का, जिसमें केवल यही सूची है। लक्ष्मण के प्रति कही गई उक्ति का रहस्य यह है कि ब्राह्मण-सेवा (शास्त्र सेवा) के मार्ग से धर्माचरण शुद्ध होगा, विषयों के प्रति विराग होगा और परमात्मा से अनुराग होगा। इस अनुराग में शास्त्रोक्त नवधा भक्ति दृढ़ होगी। सन्त सेवा (सत्संग) के मार्ग से दूसरे प्रकार की नवधा भक्ति दृढ़ होगी जो शबरी आदि साधकों के लिये भी कही गई है। इस नवधा भक्ति में न सम्प्रदाय का बन्धन है न शास्त्र का बन्धन है न इष्टदेव-निष्ठा अथवा ईश्वर निष्ठा तक का बन्धन है। सबके लिये इसके द्वार खुले हैं और सबके लिये यह एकसमान सुखद हो सकती है। यह इस प्रकार हैं:—

शबरी के प्रति उक्ति	लक्ष्मण के प्रति उक्ति
१. प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा	संत चरन पंकज अति प्रेमा
२. दूसरि रति मम कथा प्रसंगा	मम लीलारति अतिमन माहीं

३. गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमात —दृढ़ सेवा।

४. चौथि भगति मम गुनगत मम गुन गावत पुलक सरीरा
करइ कपट तजि गान। गदगद गिरा नयन बह नीरा।

५. मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।
पंचम भजनु सो वेद प्रकाशा

६. छठु दमु शील विरति बहुकर्मा काम आदि मद दंभ न जाके
निरत निरन्तर सज्जन धर्मा !

७. सातवं सम मोहि मय जग देखा गुरु पितु मातु बन्धु पति
देवा, सब मोहि कहँ जानइ
मोतें सन्त अधिक करि लेखा। (संत चरण पंकज अति प्रेमा)

८. आठवं जथालाभ संतोषा भजन करइ निहकाम
सपनेहु नहि देखइ पर दोषा

९. नवम सरल सब सन छलहीना बचन करम मन मोरि गति।
मम भरोस हिय हरष न दीना

भगवान् कहते हैं "नवमहुं एकउ जिन्ह के होई, नारि पुरुष सचराचर कोई, सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे।"

इस नवधा भक्ति के अनुसार नवधा भक्त हुए:—

(१) सत्संगी (२) कथा रसिक (३) गुरु सेवक (४) गुणकीर्तन कार (५) भजनानन्दी (६) सज्जन धर्मी (७) सर्वात्मदर्शी सन्तसेवक (८) यथा लाभ सन्तोषी और (९) परमात्मनिर्भर।

मानस का नौ दिनों वाला नवान्ह पाठ प्रसिद्ध ही है। इसके अनुसार पहिले दिन की कथा रामावतार के कारण के पूर्वतक चलती है। सरे दिन की कथा धनुषयज्ञ प्रकरण के पहिले तक

चलती है। तीसरे दिन की कथा प्रथम सोपान को लगभग पूर्ण करती है। चौथे दिन की कथा राम के प्रयाग से आगे के गमन तक जाती है। पांचवें दिन की कथा चित्रकूट की चर्चा में जनक-आगमन के प्रथम तक चलती है। छठें दिन की कथा सीता हरण और जटायु मरण तक जाती है। सातवें दिन की कथा सुबेल शैल की झांकी तक पहुँचती है। आठवें दिन की कथा रामराज्य वर्णन के प्रथम तक चलती है। और नवें दिन की कथा मानस के अन्त तक पहुँच जाती है। इन नौखण्डों की कथा पर ध्यान देने से विदित होगा कि, भगवान को छोड़कर, पहिले दिन की कथा के सामान्य पात्र हैं वक्ता श्रोता तथा विशिष्ट पात्र हैं शंकर; दूसरे दिन की कथा के सामान्य पात्र हैं मिथिला-निवासी और विशिष्ट पात्र (अथवा पात्री) हैं श्री सीताजी ; तीसरे दिन की कथा के सामान्य पात्र हैं उभय राजकुल (अयोध्या और मिथिला के) और विशिष्ट पात्र हैं दशरथ ; चतुर्थ दिन की कथा के सामान्य पात्र हैं वनवासी जन और विशिष्ट पात्र हैं लक्ष्मण ; पंचम दिन की कथा के सामान्य पात्र हैं चित्रकूट यात्री और विशिष्ट पात्र हैं भरत ; षष्ठ दिन की कथा के सामान्य पात्र हैं मुनिगण, और विशिष्ट पात्र हैं जनक विदेह (जिन्होंने चित्रकूट चर्चा में पर्याप्त भाग लिया परन्तु सज्जनतावश अपनी प्रमुखता इतनी बचाये रहे कि वहां पर उनका चरित्र तक न उभर पाया) ; सप्तम दिन की कथा के सामान्यपात्र हैं बानरगण और विशिष्ट पात्र हैं हनुमानजी ; अष्टम दिन की कथा के सामान्य पात्र हैं सद्राक्षस वृन्द (मन्दोदरी, त्रिजटा, प्रहस्त,

शुक सारन आदि) और विशिष्ट पात्र हैं विभीषण और नवम दिन की कथा के सामान्य पात्र हैं अवधवासी-गण और विशिष्ट पात्र हैं श्री भुशुन्डिजी। अब इन नवों प्रकार के पात्रों को नवधा भक्ति के क्रम से मिलान करके देखा जाय। यह मिलान कुछ इस प्रकार होगा:—

सामान्य पात्र	विशिष्टपात्र	सन्तोंकीनवधाभक्ति के क्रम वाला	शास्त्रोक्त नवधाभक्तिके क्रमवाला
१. वक्ताश्रोता	शंकर	सत्संगी	श्रवणप्रेमी
२. मिथिलावासी	सीता	कथारसिक	कीर्तनप्रेमी(नामजापक)
३. उभयराजकुल	दशरथ	गुरुसेवक	स्मरणप्रेमी
४. वनवासीगण	लक्ष्मण	गुणकीर्तिकार	पादसेवक
५. चित्रकूटयात्री	भरत	भजनानन्दी	अर्चनप्रेमी
६. मुनिगण	जनक	सज्जनधर्मी	वन्दनप्रेमी
७. बानरगण	हनुमान	सर्वात्मदर्शीसन्तसेवक	दास्यप्रेमी
८. सद्राक्षसगण	विभीषण	यथालाभसंतोपी	सख्यप्रेमी
९. अवधवासीगण	भुशुण्डि	परमात्मनिर्भर	आत्मनिवेदक

इस सूची पर ध्यान देने से पाठक सरलता पूर्वक समझ सकेंगे कि एक एक पात्र में दोनों प्रकार की भक्तियों का क्रम कितनी सुन्दरता से गोस्वामीजी ने चित्रित कर दिया है। उनके मानस का नवान्हिक क्रम इन्हीं पात्रों को लेकर चला है और ये ही पात्र दोनों सूचियों की एक एक प्रकार की भक्ति के सुन्दर प्रतीक बन गये हैं। जान पड़ता है मानों दोनों सूचियों की नवधा भक्ति के उदाहरण सन्मुख रखने के लिये ही गोस्वामीजी ने अपने पात्रों का

चयन, और उसीके अनुसार उनके चरित्रों का विकास किया हो। सामान्य सज्जनों के लिये, सामूहिक शिक्षा के लिये उन्होंने सामान्य पात्र लिये और विशिष्ट सज्जनों के लिये—व्यक्तिगत साधना के इच्छुक विशिष्ट अधिकारियों के लिये—उन्होंने विशिष्ट पात्र लिये। संभव है यह केवल हमारी ही कल्पना हो, परन्तु हम तो इस कल्पना में चतुर्दश भक्तों की चर्चा की अपेक्षा अधिक तथ्य पा रहे हैं।

(४) फिर भी वह एक असाम्प्रदायिक सद्ग्रन्थ है

असाम्प्रदायिक सद्ग्रन्थ वह है जिसका सभी सम्प्रदाय वाले सम्मान करें। गोस्वामीजी की लेखन-शैली ही ऐसी थी कि "सहज बैर बिसराय रिपु, जो सुनि करहिं बखान।" फिर उनके मानस की ओर शैव-शाक्त वैष्णव ही नहीं किन्तु सभी प्रकार के हिन्दू-मुसलमान ईसाई भी यदि झुक पड़ें तो आश्चर्य ही क्या? शिव और पार्वती के विवाह में गणेश की पूजा की गई। "सुनि कोउ शंका करइ जनि सुर अनादि जिय जानि।" राम के प्रादुर्भाव के लिये मनुशतरूपा ने द्वादशाक्षर मन्त्र से (कृष्णजी के नाम मंत्र से) ब्रह्म का जप किया था। फिर कौन पहिले कौन पीछे, कौन बड़ा कौन छोटा? जो राम को मनुष्य ही मानना चाहें वे उन्हें मनुष्य ही मानकर श्रद्धा-पूर्वक उनकी कथा का रस लें। गोस्वामीजी का उनसे कोई हठ नहीं क्योंकि वे भी आख़िर सत्य के एक अंश के पुजारी हुए ही। मानस में रामकथा के आधिभौतिक रूप ही का तो विशेष विस्तार है।

> "जौ जगदीश तौ अति भलो, जौ महीस सो भाग।
> तुलसी चाहत रामपद कमल अमल अनुराग।"

हाँ, जो केवल कुतर्की हैं, तथा कथारस के अरसिक हैं, उनके लिये यह राम कथा नहीं है। इसीलिये गोस्वामीजी कहते हैं "दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई" "सुनिय कथा सादर रति मानी।" "राम अनन्त अनन्त गुन अमित कथा विस्तार, सुनि आचरजु न मानिहहिं जिनके विमल विचार।"

असाम्प्रदायिक साहित्य—प्रेमियों में मानस के आकर्षण का प्रधान कारण है उसका काव्य-सौष्ठव। अधिक नहीं तो इसी निमित्त लोग गोस्वामीजी की राम कथा की ओर आकृष्ट हुआ करते हैं। गोस्वामीजी के मानसस्थ काव्य-सौष्ठव की अद्वितीयता पर तो जो लिखा और जितना लिखा जाय वही थोड़ा है। किन्तु वह इस ग्रन्थ का प्रकृत विषय नहीं है। हाँ, उसकी बानगी यहाँ भी दे दी जा सकती है, केवल इस नाते, कि गोस्वामीजी की राम कथा की एक विशिष्ट विशेषता का कुछ इस तरह भी दिग्दर्शन हो जाय। यह बानगी अगले परिच्छेद का विषय होगी।

पञ्चम परिच्छेद

मानस का काव्य सौष्ठव

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवं।
दण्डिनः पदलालित्यं त्रयोऽप्येकैकतोऽधिकाः ॥

ऊपर के श्लोक के सम्बन्ध का एक इतिहास है जिसमें बताया गया है कि किस प्रकार कालिदास, भारवि और दण्डी की काव्य-गत योग्यता परखी गई। ख़ैर, वह किसी प्रकार परखी गई हो किन्तु परखनेवाले ने अपना निर्णय यही दिया कि उपमा के क्षेत्र में कालिदास अद्वितीय हैं, अर्थगौरव के क्षेत्र में भारवि अद्वितीय हैं और पद-लालित्य के क्षेत्र में दण्डी आद्वितीय हैं। उपमा से कल्पना और अनुभूति की बानगी मिल जाती है। अर्थगौरव से

चिन्तन की बानगी मिल जाती है। पद-लालित्य से शब्द-स्थापन चमत्कार, सूक्ति-कौशल, कथोपकथन-चातुरी, शैली-माधुर्य आदि की बानगी मिल जाती है। तीनों क्षेत्रों में एक समान गति रखनेवाला कवि संस्कृत ही क्यों किसी भी साहित्य में दुर्लभ है। संस्कृत-साहित्य में कालिदास, दण्डी और भारवि का बड़ा मान है। वे महाकवि कहाते हैं और उपर्युक्त श्लोक का इतिहास बताता है कि वे समकालीन भी रहे हैं। परन्तु उनमें भी कोई ऐसा न हुआ जो तीनों में समान गति रखता हो। हिन्दी साहित्य का सौभाग्य है कि कविचक्रचूड़ामणि तुलसीदास हुए जिन्होंने तीनों क्षेत्रों में एक समान कमाल दिखाया है और उस कमाल को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है।

गोस्वामीजी की "उपमा" में केवल उपमा नहीं, वरन्, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि सब समा जाते हैं। उनकी "उपमा" अलङ्कारों ही की वस्तु नहीं। वह तत्व के साथ उतनी घुली-मिली है जितने नव-रस भी नहीं घुले मिले। "ध्वनि अवरेब कवित गुण जाती" भी नहीं घुले मिले। गोस्वामीजी ने नव-रसों को अपने मानस का जलचर और ध्वनि, वक्रोक्ति आदि को मीन बताया है किन्तु उपमा को मानस के रस का 'वीचि विलास मनोरम' कहा है। अतएव तत्व-विषय के स्पष्टीकरण में उनकी 'उपमा' का बहुत बड़ा हाथ समझना चाहिए और इसी दृष्टि से उनकी उपमाओं का अध्ययन भी करना चाहिए। उनको पूरी तरह समझे बिना रामकथा के रस का विलास पूरी तरह अनुभूत या गोचर न होगा।

"उपमा" के क्षेत्र में उनके कुछ नमूने देखिये :—

[१]

एक छत्र इक मुकुटमणि, सब बरनन पर जोय।
तुलसी रघुवर नाम के वरन विराजत दोय॥

रामनाम की महिमा के लिए र और म वर्णों की महिमा भी स्थापित करनी है। यह एक आकस्मिक संयोग है कि ये ही दो व्यञ्जन (र् और म्) अपने शुद्ध रूप में (अर्थात् स्वर रहित रूप में) रेफ और अनुस्वार के ढङ्ग पर प्रत्येक वर्ण के मस्तक पर ही—सिर के ऊपर ही—लिखे जाते हैं। देखिये 'अर्क' में रेफ और 'कंज' में अनुस्वार। परन्तु इस आकस्मिक संयोग को भी खोज निकालना सबका का काम न था। "कहिबो, गुनिबो देखिबो चतुरन को कछु और।" तुलसीदासजी की निगाह उस अनदेखे संयोग को भी देख आई और देख ही नहीं आई किन्तु उससे अपने मतलब का निष्कर्ष भी निकाल लिया। अपनी आकृति में रेफ है सिर पर तना हुआ राजसी छत्र और अनुस्वार है सिर पर विराजमान मुकुट-मणि। छत्र और मुकुट ही तो मस्तक के राजचिह्न हैं। वे रहे तो वर्णों का ऐश्वर्य भरपूर है, वे गये तो वर्णों का वैभव ही लुट गया समझिये। रामनाम भी इसी प्रकार सब स्वर-व्यञ्जनों को महत्व देनेवाला नाम है। वह रहा तो सब कुछ है, वह गया तो समूचे शब्द-ब्रह्म का वैभव ही चला गया। सब स्वर, व्यञ्जनों के शीर्ष स्थानीय इस नाम के दोनों वर्ण न केवल अपनी आकृति में ही छत्र और मुकुटमणि हैं वरन् अपनी प्रकृति में भी छत्र और मुकुटमणि हैं।

[२]

सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई
छबिगृह दीपसिखा जनु बरई।

कुमारी सीता के सौन्दर्य का उल्लेख है इन पंक्तियों में। आदि कवि महर्षि वाल्मीकि से लगाकर आज तक सहस्त्रों कवियों ने नारी-सौन्दर्य के उपमान के लिए दीपशिखा का स्मरण किया है। चमक-दमक, वह सुवर्ण की-सी कान्ति, वह सीधी-सी किन्तु प्रभावमयी आकृति, जगत् अन्धकार में नवज्योति लानेवाली वह एक स्वर्गीय किरण—अनेक दृष्टियों से दीपशिखा नारी-सौन्दर्य का उपमान बनी है। विरागियों ने पतङ्गों को दीपशिखा पर जलते देखा जो नारी-सौन्दर्य का उपमान और भी अधिक भावप्रद जान पड़ा और वे कह उठे—"दीपशिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतङ्ग।" उर्दू साहित्य में शमा और परवाना ने अपना विशेषाधिकार-सा प्राप्त कर लिया है। दीपशिखा की उपमा इस प्रकार बहुतों ने बहुत प्रसङ्गों पर दी। परन्तु कालिदास ने एक स्थान पर जैसी चुभती हुई उपमा दी थी वह सहृदयों को इतनी पसन्द आई कि उन्होंने कालिदास का नाम ही दीपशिखावाला कालिदास "दीपशिखा कालिदास" रख दिया, मानो घोषित कर दिया कि यह उपमा अब कालिदास के साथ ही नत्थी हो गई, अन्य कवि अब दीपशिखा का इससे उत्तम प्रयोग कर ही न सकेगा।

कालिदास का वह स्थल था इन्दुमती-स्वयम्बर। श्लोक था "सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा-सा नृपेन्द्र-

मार्गाह इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ।" दीपशिखा लेकर कोई अँधेरी सीढ़ियों पर चढ़े तो अगली सीढ़ी निश्चय चमक उठती है परन्तु पिछली सीढ़ियों में पहले से भी अधिक अन्धकार छा जाता है। यही हाल था स्वयंवर सभा में बैठे हुए उन राजाओं का। जिसके पास इन्दुमती पहुँचनेवाली होती थी वह तो फूलकर जगमगा सा उठता था; परन्तु जिसे पारकर वह राजकुमारी आगे बढ़ जाती थी उस पर अन्धकार सौगुना अधिक छा जाता था। भाव बहुत सुन्दर है। उपमा बहुत सटीक है। परन्तु वह उपमा अपने ही क्षेत्र में ठीक है। कालिदास की दीपशिखा भाव का प्रकाशन ठीक-ठीक अवश्य कर रही है परन्तु भाव का उन्नयन करने में वह रत्तीभर भी समर्थ नहीं है।

इधर, तुलसीदासजी की दीपशिखा का मुलाहिज़ा किया जाय—उनकी सीता न केवल दीपशिखा की तरह स्वयं-प्रकाशित हैं, अपितु संसार का सौन्दर्य उन्हीं पर आधारित हो रहा है। वे हैं तो संसार की रमणीयता भी खिली हुई है—चन्द्र भी सुखद है, कमल भी सुन्दर है, उपवन भी आमोदप्रद है; वे नहीं हैं तो सब जगह अँधेरा ही अँधेरा है। यही नहीं, वे संसार के सौन्दर्य के प्रदर्शन में ही सहायक नहीं, अपितु उसके विवर्धन में भी कारण-रूप हैं। मणि की चमक दीपशिखा के सहारे निश्चय ही अधिक हो उठती है। 'सुन्दरता कहुं सुन्दर करई, छविगृह दीपसिखा जनु बरई।' सीता के 'सर्वश्रेयस्कर' रूप का ध्यान करते हुए इस पंक्ति का भाव देखिये। जगत की सम्पूर्ण सुन्दरता उन्हीं के कारण तो सुन्दर बनी हुई है। इस छवि के गृह में मानो वही

दीपशिखा तो विविध रूपों से प्रज्वलित हो रही है। राम की दृष्टि से, सर्व-साधारण की दृष्टि से और भक्त की दृष्टि से भी, सीता के उस समय के रूप सौन्दर्य के लिए दीपशिखा की यह तुलना अपनी मार्मिकता में कालिदास की दीपशिखा की तुलना से किसी प्रकार कम न कही जायगी। हमारी तो निश्चित धारणा है कि यह उपमा उस उपमा से कई गुना बढ़-कर है और सीता के आधिभौतिक और आध्यात्मिक सौंदर्य को हमारे सामने बड़े भव्य रूप में उपस्थित कर देती है।

[३]

पेड़ काटि लैं पल्लव सींचा
मीन जियत निति वारि उलींचा।

भरत की यह भर्त्सना है अपनी माता ककयी के प्रति। कैकयी के दोनों वरदानों के सम्बध में इतनी संक्षिप्त और साथ ही इतनी तीव्र और इतनी सुन्दर आलोचना दूसरी शायद ही कोई हो सके। कैकयी का पहला वरदान था कि राम को अतिक्रमण करके भरत ही को समग्र राज्य-वैभव दिला दिया जाय। उसका दूसरा वरदान था कि भरत के निर्बाध विकास के लिए कुछ दिनों तक राम का सान्निध्य दूर कर दिया जाय। राम को राज्य वैभव से वंचित करके भरत राज्य-वैभव भोगें यह भी असम्भव बात थी, और राम के हटाये जाने पर भरत का विकास हो, यह भी असम्भव बात थी। वस्तु स्थिति तो यह थी कि राम के राज्य-वैभव सम्पन्न रहने से ही भरत हरे-भरे रह सकते थे। उन्हें हरा-भरा बनाये

रखने का और दूसरा उपाय ही न था। इसी प्रकार राम की उपस्थिति और उनके सान्निध्य में ही भरत का विकास निर्भर था। विकास तो विकास है, उनका जीवन भी राम की गोद से बँधा था। इतनी मोटी बात कैकयी की समझ में क्यों नहीं आई! उन्होंने राम और भरत के अविभेद्य सम्बन्ध की ओर ध्यान क्यों नहीं दिया? स्थल जगत में वृक्ष और पल्लव की मिसाल आँखों के सामने मौजूद है, जल जगत में वारि और मीन का दृष्टांत प्रत्यक्ष उपस्थित हो सकता है। पल्लव को हरा भरा रखने के लिए जो केवल पल्लव ही को सिंचन का वैभव देना चाहेगा और एतदर्थ वृक्ष को सम्पूर्ण पोषण से वंचित कर देना चाहेगा, वह कितना मूर्ख है! जो समझता है कि मीन के जीवन-विकास के लिए—उसके फैलाव के लिए—तालाब के जल को दूर फेंक देने की आवश्यकता है, वह कितना मूर्ख है! स्वार्थान्ध रानी ने इतनी मोटी बात भी न सोची! और तो और, उसने पल्लव को सींचने के लिए वृक्ष को काट ही दिया! दशरथ का मरण और क्या था, यही वृक्ष का काटा जाना तो था। अजीब है वह अक़्ल जिसने सोचा कि दूर पर टँगे पल्लव को सींचा जाय जिससे वह हरा भरा हो उठे और इसके लिए कोई परवाह नहीं यदि झाड़ भी काट डाला जाय! अद्भुत है वह बुद्धि जिसने सोचा कि मीन के जीवन-विस्तार और जीवन-सौन्दर्य के लिए जल ही उलीच कर अलग कर दिया जाय। आह! कैकयी माता! तुमने ऐसा सोचा ही नहीं, किन्तु तुम ऐसा कर भी गुज़रीं।

[४]

ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी।
गहि न जाय असि अद्भुत बानी॥

चित्रकूट की सभा का प्रसंग है। आपस की सलाहों का अवसर है। पहली सभा में पल्ला भरत की ओर भारी था। संकोची राम भरत का प्रस्ताव सुनकर चुप ही रह गये। जनक जी ने आकर पल्ला राम की ओर भारी कर दिया। वे समझ गये कि राम सत्यव्रत और धर्मरत हैं। वे अवध वापस जायेंगे नहीं। इधर अवध और मिथिला के निवासी अपने शील और स्नेह के कारण चित्रकूट में ही डेरा डाले पड़े हैं और इतने लोगों के टिके रहने के कारण राम को व्यर्थ संकट और संकोच में पड़ना पड़ रहा है।

इस परिस्थिति में वापिस लौट चलना ही श्रेयस्कर है। परन्तु सब कोई आये हैं भरत के ही साथ, इसलिए वापिस लौट चलने की बात भरत के मुंह से निकले तो उत्तम। अवध की घरू समस्याओं पर मिथिला का प्रबन्धक निर्णय क्यों दे? आखिर अवध के राजा तो भरत ही घोषित हो चुके थे न? परिस्थिति का पूर्ण संकेत करते हुए जनक जी कहते हैं।

"रामसत्यव्रत धरमरत, सब कर सील सनेहु।
संकट सहत संकोच बस, कहिय जो आयसु देहु॥"

'आदेश कीजिये कि रामचन्द्र जी से क्या कहा जाय।' बेचारे भरत क्या आदेश करते। वे तो अपने को 'सिसु सेवक आयसु अनुगामी' मान रहे थे। फिर भी उन्हें कहना पड़ा और

उन्होंने कहा "राखि रामरुख, धरमव्रतु पराधीन मोहि जानि ;—
सब के सम्मत, सर्वहित, करिय प्रेम पहचानि ।।"

अद्भुत वाणी थी वह, स्वतः गोस्वामी जी को उस वाणी के लिए कहना पड़ा "सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे, अरथु अमित अति आखर थोरे।" वह वाणी सुगम भी थी, अगम भी थी, तथा मृदुता और मंजुता से भरी थी और साथ ही परम कठोरता से भी युक्त थी। थोड़े से अक्षरों में कितना अगाध अर्थ भरा हुआ था! ऐसी अद्भुत वाणी के चमत्कार का स्पष्टी-करण करने के लिए दर्पण की उपमा सामने लायी जा रही है।

दर्पण हुआ शब्द-समूह और तद्गत मुख-प्रतिबिम्ब हुआ उस वाणी के भीतर भरा हुआ अर्थ। वह वाणी सभी ने सुनी। सभी ने अपने कान रूपी हाथों से उस वाणी रूपी दर्पण को ग्रहण किया। परन्तु सब ने उस वाणी के दर्पण में अपनी अपनी ही भावनाओं का प्रतिबिम्ब देखा, अपना ही मुख देखा। जहाँ एक ने वे शब्द दूसरे के पास सरकाये कि अर्थ एकदम बदल गया ; मुख का प्रतिबिम्ब दूसरा ही दूसरा हो गया। यही नहीं, एक ही व्यक्ति ने यदि उन शब्दों पर ज़रा बदले हुए दृष्टिकोण से विचारना आरम्भ कर दिया, उस दर्पण को ज़रा कुछ हटे हुए कोण से देखना आरम्भ किया, तो अपना मुख भी—अपनी पूर्व-भावना से देखा और अर्थ भी—टेढ़ा-मेढ़ा हो गया या साफ़ उड़ ही गया।

दोहे में राम का रुख और धर्म का तक़ाज़ा और भरत की पराधीनता तीनों ही राम की ओर पल्ला भारी कर रहे हैं। सबका

सम्मत, सबका हित और प्रेम की पहिचान, ये तीनों प्रत्यक्ष में तो भरत का पल्ला भारी कर रहे हैं परन्तु सूक्ष्म विचार से ये भी राम की ओर ही झुक रहे हैं। फिर भी धर्म का तक़ाज़ा, सबका सम्मत, सबका हित और प्रेम की पहिचान, ये चारों भरत वाणी के ऐसे विकट सूत्र हैं जिनकी व्याख्या में प्रत्येक मस्तिष्क सुगम भी, अगम भी, मृदु मंजु भी और कठोर भी, न जाने कितने प्रकार के, अर्थ सामने रख सकता है।

किसी भी एक निश्चित अर्थ को इस वाणी का प्रकृत अर्थ कहना कितना कठिन है! भरत जी ने जनक जी का आदेश भी पालन कर दिया—वाणी रूपी दर्पण भी प्रस्तुत कर दिया—साथ ही अरुचिकर विषय पर निर्णय न देने की अपनी भावुकता भी निभा ली। अब जिसे उस वाणी से जैसा अर्थ निकालना हो सो निकालता रहे। फिर भी मज़ा यह है कि वह अर्थ सामूहिक रूप से किसी की पकड़ में आवेगा नहीं और समस्या ज्यों की त्यों बनी रह जायगी। जनक के मुंह से बरबस निकल पड़ा "धन्य धन्य।" वे ही नहीं, पूरा समाज धन्य धन्य कह उठा "सहित समाज सराहत राऊ"।

[५]

सुनहु पवन-सुत रहनि हमारी
जिमि दसनन्ह महँ जीभ बिचारी।

विभीषण जी कह रहे हैं हनुमान जी से जब एकान्त में दोनों की प्रथम भेंट हुई थी। बिचारी जीभ को दाँतों के बीच कितनी सतर्कता से रहना पड़ता है। थोड़ी भी असावधानी हुई कि

एकदम कट जाने का अंदेशा! वह बेचारी अकेली और घिरी हुई हैं बत्तीस बत्तीस दाँतों के बीच में। दाँत स्वभाव से ही कठोर और जीभ स्वभाव से ही नरम; दोनों का संग मानों 'केर बेर' का संग है। बेर अपनी मस्ती में झूमता है परन्तु उसकी यह झूमझाम केलों के पत्तों के अङ्ग अङ्ग फाड़ डालती है। कैसे निभ सकता है दोनों का साथ! परन्तु जीभ को तो वह साथ निभाना ही पड़ता है। बेचारी जीभ! जिनसे उसकी प्रकृति नहीं मिल सकती उन्हीं से घिर कर बन्दी का सा जीवन बिताना पड़ता है बेचारी जीभ को। एक दो नहीं बारहों महीने, तीसों दिन, केवल कुछ बर्षों नहीं, पर जीवन-पर्यन्त। कितनी दयनीय स्थिति है बेचारी जीभ की। विभीषण जी अपनी स्थिति का चित्र जीभ और दाँत की बात कहकर, परन्तु कितनी कुशलता और कितनी स्पष्टता के साथ, परन्तु साथ ही कितनी नपी तुली संक्षिप्त भाषा में, आँखों के सामने अंकित कर रहे हैं।

परन्तु, उपमा इतने ही चमत्कार तक जाकर समाप्त नहीं हुई है। ज़रा और गहरे पैठिये तो पता लगेगा कि गोस्वामी जी ने जीभ और दाँत के संयोग से विभीषण की, और न जाने किस किस परिस्थिति का चित्र अंकित किया है। मानव-शरीर में दाँत पाँच छः महीनों बाद ही क्रमशः अपना अस्तित्व और ज़ोर दिखाते हैं तथा बुढ़ापे में एक एक करके उनका हटना भी प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह न तो वे आरम्भ से ही मानव-शरीर का साथ देते हैं और न अन्त तक ही उसके साथ रह पाते हैं।

जीभ तो जन्म से साथ है और जबतक शरीर है तबतक वह साथ रहेगी। ठीक इसी तरह लंका के विभव-शरीर में राक्षस आयेंगे और उससे बिदा भी हो जायेंगे परन्तु विभीषण ही अकेले ऐसे हैं जिनका उस विभव के आदि से अन्त तक साथ रहेगा। फिर देखिये। दाँतों का काम है भोजन की चक्की पीसना और जीभ का काम है उसका रस लेना। राक्षसों ने परिश्रम करके लङ्का को उपभोग्य विभवों से भरा परन्तु उनका अक्षय उपभोग मिलने वाला है विभीषण ही को, जिनके विषय में किंवदन्ती है कि कल्पान्त तक वे लङ्का के राज्य-वैभव का उंपभोग करते रहेंगे। आगे चलिये। दाँत स्थान-भ्रष्ट होता है तो तिरस्कृत होता है—हड्डी कहा जाकर अस्पृश्य माना जाता है—जीभ, एक तो कभी स्थान-भ्रष्ट होती ही नहीं और यदि अभी किसी देव के अर्पण हो गई (जैसा कि कभी कभी कुछ साधक लोग किया करते हैं) तो शीघ्र ही पूरे विभव के साथ फिर अपने स्थान पर पूर्ण हो जाती है और इस बार वाक्सिद्धि के से चमत्कार लेकर आती है। राक्षस अपनी लङ्का के किले से हटा कि तिरस्कृत हुआ और विभीषण यदि हटे तो न केवल शीघ्र ही पूरे विभव के साथ अपने पूर्व-स्थान पर आ गये वरन् साथ अमरता और भगवद्-भक्ति के से कुछ नये चमत्कार भी लेकर आये। ज़रा और आगे बढ़िये। कटूक्ति होती है जीभ की ओर से परन्तु ठोके जाते हैं दाँत ही। जलाभुना हुआ मर्माहत व्यक्ति कटुवचन सुनकर यही तो कहता है "तूने मुझे गालियाँ दी हैं? अच्छा, मैं मर्द नहीं यदि तेरे दाँत न तोड़ दिये।" विभीषण ने रावण के लिए कड़ी बात कह दी—सत्य

और स्पष्ट उक्ति का प्रयोग कर दिया; और परिणाम में रावण ने और भी अधिक जिद्दी होकर सब दाँतों को—सब राक्षसों को, कुटवा दिया। ऐसी अद्भुत है यह दाँत और जीभ की उपमा।

यह उपमा केवल सादृश्य लाकर भावोत्कर्ष ही नहीं करा रही है वरन् वर्ण्य विषय के अनेक अंगों का स्पष्टीकरण भी कर रही है। एक पहलू देखिये। विभीषणजी कह रहे हैं "हे हनुमानजी! आप पवनसुत हैं अतः स्वभावतः ही पवन की भाँति स्वच्छन्द निर्बाध गति है आपकी। मैं हूँ जीभ की तरह बँधा प्राणी। अतएव आप तो अशोक वन में निरापद पहुँच सकेंगे किन्तु वहाँ तक मैं आपका साथ नहीं दे सकता! मैं शरीर-सहाय्य तो नहीं पर वचन सहाय्य अवश्य कर सकूंगा—जीभ होने के नाते। मैं अशोक वन का वर्णन कर दूंगा, उस ओर का पथ बता दूँगा और वहाँ तक पहुँचने की सब हिकमत समझा दूँगा। इससे अधिक मेरे लिए सम्भव नहीं।

"जुगुति-विभीषण सकल सुनाई, चलेउ पवन सुत विदा कराई"

कैसी विचित्र उपमा है गोस्वामी तुलसीदासजी की दी हुई। कदाचित् ऐसी ही उपमाओं के कारण उन्होंने इन्हें आनुषांगिक अलंकार न कहकर वर्ण्य रस का वीचि विलास कहा है। "उपमा वीचि विलास मनोरम।"

[६]

रामसिन्धु, धन सज्जन धीरा
चन्दन तरु हरि सन्त समीरा॥

भुशुण्डिजी कह रहे हैं "मोरे मन प्रभु अस विस्वासा, राम ते अधिक रामकर दासा।" राम के दास को राम से अधिक क्यों और किस प्रकार माना जाय! इसके लिए दो उपमाएँ दी गई हैं जो उपर्युक्त पंक्तियों में अंकित हैं। एक उपमा है जल जगत् की और एक उपमा है स्थल जगत् की। प्रकारान्तर से यह भी कह सकते हैं कि एक उपमा है वस्तु जगत् की और एक उपमा है कल्पना-जगत् की। चन्दन तरु यहाँ बंगलोर के कारखाने में निचोड़ा जाने वाला चन्दन तरु नहीं है, वरं कवि-परम्परा प्राप्त वह काल्पनिक चन्दन तरु है जिसके चारों ओर शेष की तरह नाग लिपटे रहते हैं; वह चन्दन तरु है जो स्वतः तो अदृश्य रहता है परन्तु अपने सान्निध्य मात्र से अन्य वृक्षों को अपनी ही सी सुरभि प्रदान कर देता है, अपनी ही तरह का चन्दन बना देता है, सूक्ष्म नहीं किन्तु एकदम स्थूल, दिव्य नहीं किन्तु एकदम भव्य।

समुद्र एक है और सम्पूर्ण जल स्रोतों का उद्गम है। वहीं से जल की उत्पत्ति तथा वृद्धि है और सम्पूर्ण जलस्रोतों का अंतिम प्राप्य भी वही है। उसी में सम्पूर्ण जल स्रोतों का विलय हो जाया करता है। वह एक ही नहीं किन्तु एक-रस भी है। वह न घटता है न बढ़ता है। वह दुर्गम भी इतना है कि हर किसी की पहुँच वहाँ तक नहीं। यदि कठिनता से कोई वहाँ तक पहुँच भी गया तो उसके रस का आस्वादन करना दुष्कर है। नमक का पुतला मनुष्य उसमें घुलमिल जाय यह आसान है परन्तु अपना व्यक्तित्व रखते हुए उसका रसपान करके तृप्त हो

जाय, यह असम्भव सा है। ब्रह्म (विचार जगत् के राम) का भी समुद्र का सा ही हाल है। उपयोगिता की व्यावहारिक दृष्टि से, दुनिया के साधकों के लिये, ऐसा ब्रह्म किस कामका ? उनके लिए तो वही 'सागर' है—जल का सर्वश्रेष्ठ भाण्डार है, जो उनकी प्यास बुझा सके। "सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाय।" प्यास बुझाने का यह काम बन पड़ता है बादलों से। अपनी सलिल-राशि लाते हैं वे सिन्धु ही से किन्तु उसका खारापन वे वहीं छोड़ आते हैं और मीठापन अपने साथ लाये हुए जल में भर लाते हैं। ज्ञान के नमक (लावण्य) का सलोनापन इसी में प्रसिद्ध है कि वह दुनिया के विकारों को, नहीं नहीं, दुनिया के अस्तित्व तक को हज़म कर डालता है; परन्तु भावनाशील प्राणियों के लिये तो भक्ति की मिठास में ही तृप्ति होती है। वे निर्गुण तत्व का ऊहापोह नहीं, सगुण-कथा का रसास्वाद चाहते हैं। यह काम सज्जन रूपी घनों से सम्पन्न हो सकता है। "ब्रह्म पयोनिधि मंदर, ज्ञान सन्त सुर आहिं; कथा सुधा मथि काढ़इ, भगति मधुरता जाहि।"

फिर देखिये। सिन्धु तो दुर्गम है, सर्वसाधारण की पहुँच के परे है और अपनी ही विशेषता में सक्रिय होकर भी इस प्रकार निष्क्रिय है कि उसके तत्व-रत्न पा जाना महान् कष्टकर व्यापार हो जाता है। इधर, बादलों का यह हाल है कि देश विदेशों में घूम-घूमकर जनों-जनों पर वे अमृत की झड़ी लगाया करते हैं! रस की प्राप्ति में किसी को कोई प्रयत्न करना नहीं है। वह बना बनाया सामने तैयार है। केवल पीने भर की देर समझिये। इस परिस्थिति

में व्यवहार के दृष्टिकोण से सिन्धु बड़ा कि घन बड़े। राम अधिक कि राम के दास का दर्जा अधिक ?

जो धीर हैं वे ही तो राम के दास हैं। आस्तिक्य, दिखाव में नहीं चरित्र में रहता है। जो लोक-सेवक है वह सबसे बड़ा ईश्वर भक्त है। जो धीर सज्जन है वह सबसे बड़ा रामभक्त है। और, जो ऐसा रामभक्त है वह राम से भी बड़ा है—ईश्वर-विचार से भी बड़ा है।

अब कल्पना जगत् के राम को देखिये। इष्टदेव की भावना कवि-सम्प्रदाय के चन्दन-तरु ही की तरह रहस्यमयी है। किसने देखा है उस इष्टदेव को ? परन्तु जिसने उसका सान्निध्य किया है—ध्यान किया है वह उसी के दिव्य गुणों से भर उठा है–स्वतः चन्दन बन गया है। यह सान्निध्य करायें कौन ? वृक्षों में वह जंगमता नहीं कि वे जाकर चन्दन से लिपट जांय। चन्दन में वह ममत्व नहीं कि वह आप ही आप सब वृक्षों तक पहुच कर उन्हें अपना रूप दे दे। तब सान्निध्यता के अभाव में चन्दन की चन्दनता दुनिया के लिए बेकार ही है। इस स्थिति में उपयोगिता की दृष्टि से चन्दन से अधिक दर्जा तो हुआ उस वस्तु का जो सान्निध्यत प्रदान कराने की शक्ति रखे। यह शक्ति है सन्त-रूपी समीर में। मलय-समीर ही तो मलय-सुरभि ला लाकर अन्य वृक्षों को सुवासित करता रहता और इस तरह उन्हें चन्दन बनाया करता है। इतना ही नहीं वही गाँव-गाँव और घर-घर उस सौरभ का प्रचार करता है और इस प्रकार चन्दन के अस्तित्व तथा प्रभाव का पता देकर लोक-कल्याण करता है। सन्तों ही की प्रेरणा से

लोग अपने अपने इष्टदेव को पहचानते, उसके ध्यान में तन्मय होते और उससे लाभान्वित होते हैं। इसलिए ऐसी स्थिति में संत समीर का दर्जा अधिक कि हरि-चन्दन तरु का दर्ज़ा अधिक ? "गुरु गोविन्द दोउ खड़े काके लागूँ पाय बलिहारी गुरु आपणे जिण गोविन्द दिया बताय।" "कबीर के इस कथन को कितने अधिक काव्य माधुर्य से भरकर सामने उपस्थित कर दिया है गोस्वामी तुलसीदासजी ने।

अब अर्थ गांभीर्य के क्षेत्र में भी उनके कुछ नमूने देख लीजिये।

(१)

बन्दऊँ रामनाम रघुवर को
हेतु कृसानु भानु हिमकर को।

भारत के तीन वंश प्रसिद्ध हैं ; सूर्यवंश, चन्द्रवंश और अग्निवंश। शास्त्रों में यही तीन ज्योतियां भी प्रसिद्ध हैं ; एक भानु ज्योति एक हिमकर ज्योति और एक कृशानु ज्योति। इन्हीं के अनुसार मार्ग भी तीन ही कहे गये हैं। इन्हें ही प्रकारान्तर से ज्ञान मार्ग भक्ति मार्ग और कर्म मार्ग कहा जाता है। ज्ञान का सादृश्य भानु की स्वयं-प्रकाशता से है। भक्ति का सादृश्य हिमकर की शीत-लता और रसार्द्रता से है। कर्म का सादृश्य यज्ञ के आधार अग्नि की स्फुरण-शीलता से है। जो कर्म मार्ग है वही अनासक्ति या वैराग्य मार्ग भी है। अग्नि का भगवा (गेरुआ) रंग वासनाएँ भस्म करने वाले वैराग्य का सुन्दर प्रतीक है ही। यह भी एक ध्यान देने योग्य संयोग है कि सूर्यवंश, चन्द्रवंश और अग्निवंश इन तीनों में ही एक-एक राम हुए हैं और वे तीनों ही अवतारी महा-

पुरुष कहे जाते हैं। सूर्यवंश के हुए राजाराम, चन्द्रवंश के हुए बलराम और अग्निवंश के हुए परशुराम। परन्तु रामनाम धारी इन तीनों महा पुरुषों में परम वन्दनीय नाम है सूर्यवंशी राम का रघुवंशी राम का, श्री रघुवरजी का। गोस्वामीजी ने उपर्युक्त पंक्तियों में उन्हीं के नाम की वन्दना की है। "वन्दउँ राम नाम रघुवर को।" 'राम' कहने से रघुवंशी राम का तात्पर्य लेना चाहिए। यही भक्ति मार्ग वालों का अभीष्ट है क्योंकि परमात्मा की कलाएँ न बलराम में उतनी अधिक प्रस्फुटित हो सकी हैं और न परशुराम में। अपनी असाधारणता के लिए वे भी अवतार कोटि में भले ही रख लिए जायँ परन्तु आदर्श तो रघुवंशी राम ही माने जायंगे।

रघुवर दाशरथी के भी अनेकों नाम हो सकते हैं। राघवेन्द्र कोशलेन्द्र, लक्ष्मणाग्रज, दशरथ-तनय, सीता-पति आदि आदि अनेक नाम तो हैं उनके। इन सब नामों में रामनाम ही श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि न केवल व्युत्पत्ति के हिसाब से ही वरं और भी कई कारणों से यह नाम "सकल नामन तें अधिका" है। अतएव यही नाम सर्वप्रथम वन्दनीय है। फिर, यह भी समझ लिया जाय कि यद्यपि यह राघवेन्द्र का नाम कहा जाता है तो भी यह नाम अपने नामी (रामनाम धारी राघवेन्द्र) से किसी दर्जे कम नहीं है।

नामी हुआ एक विशिष्ट रूप। वह भी ब्रह्म की उपाधि है और नाम भी ब्रह्म की उपाधि है। रूप पहिले हुआ कि नाम यह कहना बहुत कठिन है। दोनों ही अनादि हैं, दोनों ही अकथ हैं। फिर भी सज्जनों ने रूप की अपेक्षा नाम को ही अधिक

महत्त्व दिया है। राम का रूप तो एक विशिष्ट देशकाल में बँध-कर एक विशिष्ट कुल में अपना व्यक्तित्व प्रकट कर चुका है। तीन कुल ऐसे हैं जिनमें 'राम' का रूप भिन्न-भिन्न ढंगों में प्रकट हुआ। परन्तु नाम का महात्म्य ऐसा प्रबल है कि वह न केवल उन तीनों रूपों का अकेला द्योतक है वरं स्वतः उन तीनों कुलों का जनक भी कहा जा सकता है। समस्त संसार 'नाद' और विन्दु (ओंकार) से बना है। उसी ओं का दूसरा रूप है रां (विधि हरिहरमय वेद प्रान सो)। तब फिर रामनाम ही कृशानु भानु और हिमकर कुलों का भी हेतु क्यों न कहा जाय। यही नाम वेद-प्राण होने के कारण सगुण निर्गुण ब्रह्म का दूसरा नाम सम-झिये। अतएव नामी की वन्दना के पहले गोस्वामीजी ने उसके ऐसे नाम की वन्दना की जो न केवल उसके नराकार रूप को ही अपने में समेटे बैठा है वरं उसके सुराकार और निराकार तत्व का भी लक्ष्य करा देने की पूरी क्षमता रखता है।

संस्कृत में 'रघु' शब्द बना है गमनार्थक धातु से। अतएव रघुवर का अर्थ हुआ प्रगतिशील तत्त्वों में श्रेष्ठ। वह निश्चय ही होगा ईश्वर, जो आत्म विलास के लिए आत्मविकास करता जा रहा है। ऐसे परमात्मा का राम नाम ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनों का हेतु है—तीनों का देने वाला है। अतएव निश्चय ही वह प्रथम वन्दनीय है।

रामनाम वह नाम न समझा जाना चाहिए जो मुँह से निकला और हवा में उड़ गया। जो क्षर हो जाय, नाशमान् हो जाय, क्षण में बने और क्षण में बिगड़ भी जाय, वह अक्षर कैसा!

अक्षर वह जो क्षर रूपों का स्रष्टा हो किन्तु स्वतः क्षर न हो सके। ओं इसी दृष्टि से एकाक्षर ब्रह्म है। वही योगशास्त्र का शिव है। जब उसी एकनाद की विभिन्न ध्वनियाँ स्फुट होती हैं तब एक अक्षर पूरी वर्णमाला का रूप धारण करता है। इस माला का एक-एक वर्ण एक-एक बीज मन्त्र रहता है—एक-एक प्रकार की शक्ति का मूल बीज रहता है। जब सभी शक्तियों का विकास होकर पूरी माला शिव के कण्ठ का आभूषण हो जाती है तभी सच्चा शिव-शक्ति-संयोग होता है। अर्धनारीश्वरत्व अथवा नारीनटेश्वरत्व तभी स्पष्ट होता है। उन सभी शक्तियों में सूर्य-शक्ति, चन्द्रशक्ति और अग्निशक्ति श्रेष्ठ सबल शक्तियाँ हैं। इन तीनों शक्तियों को देनेवाले बीज मन्त्र हैं र, आ और म। र अग्निबीज है आ आदित्य बीज अथवा सूर्यबीज तथा म चन्द्रबीज है। अतएव गोस्वामीजी, यहाँ उस नाम की वन्दना कर रहे हैं जो इन त्रिशक्तियों का हेतु है न कि उस नाम की जो केवल बैखरी वाणी से बोल लिया जाता है और जो बोलते ही हवा में उड़ जाता है। बैखरी वाणी से गहरी है मध्यमा वाणी। उससे भी गहरी है पश्यन्ती वाणी और पश्यन्ती से भी गहरी है परावाणी, जिसमें वास्तविक अक्षर की स्थापना रहा करती है।

सामान्य-सी लगनेवाली अपनी इस वन्दना में कितनी दूर तक का ध्यान रखा है गोस्वामीजी ने।

[२]

चातक कोकिल कीर चकोरा
कूजत विहग नटत कल मोरा।

जनक-वाटिका का वर्णन है, जहाँ कुमार राम और कुमारी सीता का प्रथम साक्षात्कार होनेवाला है। वह वाटिका ऐसी है जिसमें चातक, कोकिल, कीर, चकोर पक्षी कूजन कर रहे हैं और सुन्दर मयूर नाच रहे हैं। ठीक है। चलते हुए टीकाकार कहेंगे कि वाटिका विभव के प्रदर्शन के लिये गोस्वामीजी ने कुछ पक्षियों के नाम गिना दिये। बस। परन्तु गम्भीर विचारक लोग इस तथाकथित नाम-गिनौवल में अर्थ-गौरव अथवा अर्थगांभीर्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण पा जायेंगे।

साहित्य-रसिक जानते हैं कि कोकिल वसन्त में ही बोलती है "सुनि पावस को आगमन, धरैं कोकिला मौन।" उस वाटिका में कोकिला तो बोल ही रही थी। साहित्यकार यह भी जानता है कि मोर वर्षा ऋतु में ही नाचता है, "नाचत वारिद पेखि।" उस वाटिका में मोर तो नाच ही रहा था। तब ? तब क्या इन पक्षियों के बहाने गोस्वामीजी ने उस वाटिका में विभिन्न ऋतुओं का वैभव एक साथ वर्तमान करा दिया है ? बात बिलकुल यही है।

चातक स्वाती का जल पाकर ही कूज सकता है—चहचहा सकता है। स्वाती नक्षत्र आता है वर्षा के बाद शरद ऋतु में। कोकिल वसन्त का पक्षी है ही। कीर ग्रीष्म ऋतु का संकेत कर रहा है क्योंकि चोंच मारने को उसी समय बहुत से पके फल मिला करते हैं। चकोर खूब शीतल चंद्रिका चाहने वाला पक्षी होने के कारण शिशिर ऋतु का द्योतन कर रहा है। 'विहंग' (अर्थात् आकाश-गामी) उन पक्षियों की ओर संकेत कर रहा है

जो पंक्ति बाँध कर आकाश मार्ग से प्रति शीतकाल भारत की ओर आते और शीत की समाप्ति के बाद हिमालय की ओर वापस चले जाते हैं ! उनका पंक्तिबद्ध आकाशगमन दर्शनीय रहता है। इन्हें स्पष्ट ही हेमन्त के पक्षी कहा जा सकता है। मोर तो वर्षा का पक्षी है ही। तब पूरी पंक्ति से यही प्रतीत हुआ कि उस वाटिका में छहों ऋतुओं के अनुकूल सामग्री विद्यमान थी।

इन ऋतुओं के द्योतक पक्षियों में "चातक-कोकिल कीर चकोर" का ही क्रम क्यों रखा गया है, और विहंगों ही तक का कूजना तथा मोर का नृत्य करना क्यों कहा गया है, इसका भी कारण है। परन्तु उस कारण का रहस्य आगे खुलेगा। वर्तमान अर्थ में तो यह क्रम यही बताता है कि उस वाटिका में प्रकृति की ऋतुएँ अपना पूर्वापर क्रम त्याग कर बसी हुई थीं। यहाँ देखिये तो चातक की शरद् है, वहाँ देखिये तो कोकिल की वसंत अपनी छटा लिए हुए खड़ी है। उस ओर कीर के ग्रीष्म का गौरव लदा हुआ है तो इस ओर चकोर का प्रिय शिशिर-शैत्य अपना चमत्कार दिखा रहा है। कहीं हेमन्त है तो कहीं वर्षा का रंग जमा हुआ है।

राम के लिए ऋतुओं का कालगति त्याग कर उस वाटिका में बस जाना कौन आश्चर्य की बात थी ! गोस्वामी जी एक जगह कह ही गये हैं "सब तरु फरे रामहित लागी, रितु अरु कुरितु कालगति त्यागी।" इसी वाटिका प्रसङ्ग के आरंभ में उन्होंने कहा "भूप बाग बर देखेउ जाई, जहं वसन्त रितु रही लुभाई।" "रामचरित-पुष्पांजलि के अनुसार पुष्पवाटिका का प्रसंग कुँवार

[४]

ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी।
गहि न जाय अस अद्भुत बानी॥

चित्रकूट की सभा का प्रसंग है। आपस की सलाहों का अवसर है। पहली सभा में पल्ला भरत की ओर भारी था। संकोची राम भरत के प्रस्ताव सुनकर चुप ही रह गये। जनक जी ने आकर पल्ला राम की ओर भारी कर दिया। वे समझ गये कि राम सत्यव्रत और धर्मरत हैं। वे अवध वापस जायंगे नहीं। इधर अवध और मिथिला के निवासी अपने शील और स्नेह के कारण चित्रकूट में ही डेरा डाले पड़े हैं और इतने लोगों के टिके रहने के कारण राम को व्यर्थ संकट और संकोच में पड़ना पड़ रहा है।

इस परिस्थिति में, वापिस लौट चलना ही श्रेयस्कर है। परन्तु सब कोई आये हैं भरत के ही साथ, इसलिए वापिस लौट चलने की बात भरत के मुंह से ही निकले तो उत्तम। अवध की घरू समस्याओं पर मिथिला का प्रबन्धक निर्णय क्यों दे? आखिर अवध के राजा तो भरत ही घोषित हो चुके थे न? परिस्थिति का पूर्ण संकेत करते हुए जनक जी कहते हैं।

"रामसत्यव्रत धरमरत, सब कर सील सनेहु
संकट सहत सँकोच बस, कहिय जो आयसु देहु॥"

'आदेश कीजिये कि रामचन्द्र जी से क्या कहा जाय।' बेचारे भरत क्या आदेश करते। वे तो अपने को 'सिसु सेवक आयसु अनुगामी' मान रहे थे। फिर भी उन्हें कहना पड़ा और

उन्होंने कहा "राखि रामरुख, धरमुव्रतु पराधीन मोहि जानि;
—सबके संमत, सर्वहित, करिय प्रेम पहचानि ॥"

अद्‌भुत वाणी थी वह स्वतः गोस्वामीजी को उस वाणी के लिए कहना पड़ा "सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे, अरथु अमित अति आखर थोरे।" वह वाणी सुगम भी थी, अगम भी थी, तथा मृदुता और मंजुता से भी भरी थी और साथ ही परम कठोरता से भी युक्त थी। थोड़े से अक्षरों में कितना अगाध अर्थ भरा हुआ था! ऐसी अद्‌भुत वाणी के चमत्कार का स्पष्टीकरण करने के लिए दर्पण की उपमा सामने लायी जा रही है।

दर्पण हुआ शब्द-समूह और तद्‌गत मुख-प्रतिबिम्ब हुआ उस वाणी के भीतर भरा हुआ अर्थ। वह वाणी सभी ने सुनी। सभी ने अपने कान रूपी हाथों से उस वाणी रूपी दर्पण को ग्रहण किया। परन्तु सबने उस वाणी के दर्पण में अपनी अपनी ही भावनाओं का प्रतिबिम्ब देखा, अपना ही मुख देखा। यहाँ एक ने वे शब्द दूसरे के पास सरकाये कि अर्थ एकदम बदल गया; मुख का प्रतिबिम्ब दूसरा ही दूसरा हो गया। यही नहीं, एक ही व्यक्ति ने यदि उन शब्दों पर ज़रा बदले हुए दृष्टिकोण से विचारना आरम्भ कर दिया, उस दर्पण को ज़रा कुछ हटे हुए कोण से देखना आरम्भ किया, तो अपना मुख भी—अपनी पूर्व-भावना से देखा हुआ अर्थ भी—टेढ़ा मेढ़ा हो गया या साफ़ उड़ ही गया।

दोहे में राम का रुख और धर्म का तकाजा और भरत की पराधीनता तीनों ही राम की ओर पल्ला भारी कर रहे हैं। सबका

सम्मत, सबका हित और प्रेम की पहिचान, ये तीनों प्रत्यक्ष में तो भरत का पल्ला भारी कर रहे हैं परन्तु सूक्ष्म विचार से ये भी राम की ओर ही झुक रहे है। फिर भी धर्म का तकाज़ा, सबका सम्मत. सबका हित और प्रेम की पहिचान, ये चारों भरत वाणी के ऐसे विकट सूत्र हैं जिनकी व्याख्या में प्रत्येक मस्तिष्क सुगम भी, अगम भी, मृदु मंजु भी और कठोर भी, न जाने कितने प्रकार के, अर्थ सामने रख सकता है।

किसी भी एक निश्चित अर्थ को इस वाणी का प्रकृत अर्थ कहना कितना कठिन है! भरत जी ने जनक जी का आदेश भी पालन कर दिया—वाणी रूपी दर्पण भी प्रस्तुत कर दिया—साथ ही अरुचिकर विषय पर निर्णय न देने की अपनी भावुकता भी निभा ली। अब जिसे उस वाणी से जैसा अर्थ निकालना हो सो निकालता रहे। फिर भी मज़ा यह है कि वह अर्थ सामूहिक रूप से किसी की पकड़ में आवेगा नहीं और समस्या ज्यों की त्यों बनी रह जायगी। जनक के मुंह से बरबस निकल पड़ा "धन्य धन्य।" वे ही नहीं, पूरा समाज धन्य धन्य कह उठा। "सहित समाज सराहत राऊ"

[५]

सुनहु पवन-सुत रहनि हमारी
जिमि दसनन्ह महँ जीभ बिचारी।

विभीषण जी कह रहे हैं हनुमान जी से जब एकान्त में दोनों की प्रथम भेंट हुई थी। बिचारी जीभ को दाँतों के बीच कितनी सतर्कता से रहना पड़ता है। थोड़ी भी असावधानी हुई कि

एकदम कट जाने का अंदेशा ! वह बेचारी अकेली और घिरी हुई है बत्तीस बत्तीस दाँतों के बीच में। दाँत स्वभाव से ही कठोर और जीभ स्वभाव से ही नरम; दोनों का संग मानों 'केर बेर' का संग है। बेर अपनी मस्ती में झूमता है परन्तु उसकी वह झूमझाम केलों के पत्तों के अङ्ग अङ्ग फाड़ डालती है। कैसे निभ सकता है दोनों का साथ ! परन्तु जीभ को तो वह साथ निभाना ही पड़ता है। बेचारी जीभ ! जिनसे उसकी प्रकृति नहीं मिल सकती उन्हीं से घिर कर बन्दी का सा जीवन बिताना पड़ता है बेचारी जीभ को। एक दो दिन नहीं बारहों महीने, तीसों दिन, केवल कुछ वर्षों नहीं, पर जीवन-पर्यन्त। कितनी दयनीय स्थिति है बेचारी जीभ की। विभीषण जी अपनी स्थिति का चित्र जीभ और दाँत की बात कहकर, परन्तु कितनी कुशलता और कितनी स्पष्टता के साथ, परन्तु साथ ही कितनी नपी तुली संक्षिप्त भाषा में, आँखों के सामने अंकित कर रहे हैं।

परन्तु उपमा इतने ही चमत्कार तक जाकर समाप्त नहीं हुई है। ज़रा और गहरे पैठिये तो पता लगेगा कि गोस्वामी जी ने जीभ और दाँत के संयोग से विभीषण की, और न जाने किस किस परिस्थिति का चित्र अंकित किया है। मानव-शरीर में दाँत पाँच छः महीनों बाद ही क्रमशः अपना अस्तित्व और ज़ोर दिखाते हैं तथा बुढ़ापे में एक एक करके उनका हटना भी प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह न तो वे आरम्भ से ही मानव-शरीर का साथ देते हैं और न अन्त तक ही उसके साथ रह पाते हैं।

जीभ तो जन्म से साथ है और जबतक शरीर है तबतक वह साथ रहेगी। ठीक इसी तरह लंका के विभव-शरीर में राक्षस आयेंगे और उससे बिदा भी हो जायेंगे परन्तु विभीषण ही अकेले ऐसे हैं जिनका उस विभव के आदि से अन्त तक साथ रहेगा। फिर देखिये। दाँतों का काम है भोजन की चक्की पीसना और जीभ का काम है उसका रस लेना। राक्षसों ने परिश्रम करके लङ्का को उपभोग्य विभवों से भरा परन्तु उनका अक्षय उपभोग मिलने वाला है विभीषण ही को, जिनके विषय में किंवदन्ती है कि कल्पान्त तक वे लङ्का के राज्य-वैभव का उपभोग करते रहेंगे। आगे चलिये। दाँत स्थान-भ्रष्ट होता है तो तिरस्कृत होता है—हड्डी कहा जाकर अस्पृश्य माना जाता है—जीभ, एक तो कभी स्थान-भ्रष्ट होती ही नहीं और यदि अभी किसी देव के अर्पण हो गई (जैसा कि कभी कभी कुछ साधक लोग किया करते हैं) तो शीघ्र ही पूरे विभव के साथ फिर अपने स्थान पर पूर्ण हो जाती है और इस बार वाक्सिद्धि के से चमत्कार लेकर आती है। राक्षस अपनी लङ्का के किले से हटा कि तिरस्कृत हुआ और विभीषण यदि हटे तो न केवल शीघ्र ही पूरे विभव के साथ अपने पूर्व-स्थान पर आ गये वरन् साथ अमरता और भगवद्-भक्ति के से कुछ नये चमत्कार भी लेकर आये। ज़रा और आगे बढ़िये। कटूक्ति होती है जीभ की ओर से परन्तु ठोके जाते हैं दाँत ही। जलाभुना हुआ मर्माहत व्यक्ति कटुवचन सुनकर यही तो कहता है "तूने मुझे गालियाँ दी हैं ? अच्छा, मैं मर्द नहीं यदि तेरे दाँत न तोड़ दिये।" विभीषण ने रावण के लिए कड़ी बात कह दी—सत्य

और स्पष्ट उक्ति का प्रयोग कर दिया; और परिणाम में रावण ने और भी अधिक जिद्दी होकर सब दाँतों को—सब राक्षसों को, कुटवा दिया। ऐसी अद्भुत है यह दाँत और जीभ की उपमा।

यह उपमा केवल सादृश्य देकर भावोत्कर्ष ही नहीं करा रही है वरन वर्ण्य विषय के अनेक अंगों का स्पष्टीकरण भी कर रही है। एक पहलू देखिये। विभीषणजी कह रहे है "हे हनुमानजी! आप पवनसुत हैं अतः स्वभावतः ही पवन की भाँति स्वच्छन्द निर्बाध गति है आपकी। मैं हूँ जीभ की तरह बँधा प्राणी। अतएव आप तो अशोक वन में निरापद पहुंच सकेंगे किन्तु वहाँ तक मैं आपका साथ नहीं दे सकता! मैं शरीर-सहाय्य तो नहीं पर वचन सहाय्य अवश्य कर सकूंगा—जीभ होने के नाते। मैं अशोक वन का वर्णन कर दूंगा, उस ओर का पथ बता दूँगा और वहाँ तक पहुँचने की सब हिकमत समझा दूँगा। इससे अधिक मेरे लिए सम्भव नहीं।

"जुगुति विभीषण सकल सुनाई, चलेउ पवन सुत विदा कराई"

कैसी विचित्र उपमा है गोस्वामी तुलसीदासजी की दी हुई। कदाचित् ऐसी ही उपमाओं के कारण उन्होंने इन्हें आनुषांगिक अलंकार न कहकर वर्ण्य रस का वीचि विलास कहा है। "उपमा वीचि विलास मनोरम।"

[६]

रामसिन्धु, धन सज्जन धीरा
चन्दन तरु हरि सन्त समीरा ॥

भुशुण्डिजी कह रहे हैं "मोरे मन प्रभु अस विस्वासा, राम ते अधिक रामकर दासा।" राम के दास को राम से अधिक क्यों और किस प्रकार माना जाय। इसके लिए दो उपमाएँ दी गई हैं जो उपर्युक्त पंक्तियों में अंकित हैं। एक उपमा है जल जगत् की और एक उपमा है स्थल जगत की। प्रकारान्तर से यह भी कह सकते हैं कि एक उपमा है वस्तु जगत की और एक उपमा है कल्पना-जगत् की। चन्दन तरु यहाँ बंगलोर के कारखाने में निचोड़ा जाने वाला चन्दन तरु नहीं है, वरं कवि-परम्परा प्राप्त वह काल्पनिक चन्दन तरु है जिसके चारों ओर शेष की तरह नाग लिपटे रहते हैं; वह चन्दन तरु है जो स्वतः तो अदृश्य रहता है परन्तु अपने सान्निध्य मात्र से अन्य वृक्षों को अपनी ही सी सुरभि प्रदान कर देता है, अपनी ही तरह का चन्दन बना देता है, सूक्ष्म नहीं किन्तु एकदम स्थूल, दिव्य नहीं किन्तु एकदम भव्य।

समुद्र एक है और सम्पूर्ण जल स्रोतों का उद्गम है। वहीं से जल की उत्पत्ति तथा वृद्धि है और सम्पूर्ण जलस्रोतों का अंतिम प्राप्य भी वही है। उसी में सम्पूर्ण जल स्रोतों का विलय हो जाया करता है। वह एक ही नहीं किन्तु एक-रस भी है। वह न घटता है न बढ़ता है। वह दुर्गम भी इतना है कि हर किसी की पहुँच वहाँ तक नहीं। यदि कठिनता से कोई वहाँ तक पहुँच भी गया तो उसके रस का आस्वादन करना दुष्कर है।

नमक का पुतला मनुष्य उसमें घुलमिल जाय यह आसान है परन्तु अपना व्यक्तित्व रखते हुए उसका रसपान करके तृप्त हो

जाय, यह असम्भव सा है। ब्रह्म (विचार जगत् के राम) का भी समुद्र का सा ही हाल है। उपयोगिता की व्यावहारिक दृष्टि से, दुनिया के साधकों के लिये, ऐसा ब्रह्म किस कामका ? उनके लिए तो वही 'सागर' है—जल का सर्वश्रेष्ठ भाण्डार है, जो उनकी प्यास बुझा सके। "सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाय।" प्यास बुझाने का यह काम बन पड़ता है बादलों से। अपनी सलिल-राशि लाते हैं वे सिन्धु ही से किन्तु उसका खारापन वे वहीं छोड़ आते हैं और मीठापन अपने साथ लाये हुए जल में भर लाते हैं। ज्ञान के नमक (लावण्य) का सलोनापन इसीं में प्रसिद्ध है कि वह दुनिया के विकारों को, नहीं नहीं, दुनिया के अस्तित्व तक को हज़म कर डालता है; परन्तु भावनाशील प्राणियों के लिये तो भक्ति की मिठास में ही तृप्ति होती है। वे निर्गुण तत्व का ऊहापोह नहीं, सगुण-कथा का रसास्वाद चाहते हैं। यह काम सज्जन रूपी घनों से सम्पन्न हो सकता है। "ब्रह्म पयोनिधि, मंदरज्ञान, सन्त सुर आहि; कथा सुधा मथि काढ़इ, भगति मधुरता जाहि।"

फिर देखिये। सिन्धु तो दुर्गम है, सर्वसाधारण की पहुँच के परे है और अपनी ही विशेषता में सक्रिय होकर भी इस प्रकार निष्क्रिय है कि उसके तत्व-रत्न पा जाना महान् कष्टकर व्यापार हो जाता है। इधर, बादलों का यह हाल है कि देश विदेशों में घूम-घूमकर जनों-जनों पर वे अमृत की झड़ी लगाया करते ! रस की प्राप्ति में किसी को कोई प्रयत्न करना नहीं है। वह बना बनाया सामने तैयार है। केवल पीने भर की देर समझिये। इस परि-

स्थिति में व्यवहार के दृष्टिकोण से सिन्धु बड़ा कि घन बड़े। राम अधिक कि राम के दास का दर्जा अधिक ?

जो धीर हैं वे ही तो राम के दास हैं। आस्तिक्य, दिखाव में नहीं चरित्र में रहता है। जो लोक-सेवक है वह सबसे बड़ा ईश्वर भक्त है। जो धीर सज्जन है वह सबसे बड़ा रामभक्त है। और, जो ऐसा रामभक्त है वह राम से भी बड़ा है—ईश्वर-विचार से भी बड़ा है।

अब कल्पना जगत् के राम को देखिये। इष्टदेव की भावना कवि-सम्प्रदाय के चन्दन-तरु ही की तरह रहस्यमयी है। किसने देखा है उस इष्टदेव को ? परन्तु जिसने उसका सान्निध्य किया है—ध्यान किया है; वह उसी के दिव्य गुणों से भर उठा है—स्वतः चन्दन बन गया है। यह सान्निध्य कराये कौन ? वृक्षों में वह जंगमता नहीं कि वे जाकर चन्दन से लिपट जायं। चन्दन में वह ममत्व नहीं कि वह आप ही आप सब वृक्षों तक पहुंच कर उन्हें अपना रूप दे दे। तब सान्निध्यता के अभाव में चन्दन की चन्दनता दुनिया के लिए बेकार ही है। इस स्थिति में उपयोगिता की दृष्टि से चन्दन से अधिक दर्जा तो हुआ उस वस्तु का जो सान्निध्यता प्रदान कराने की शक्ति रखे। यह शक्ति है सन्त-रूपी समीर में। मलय-समीर हो तो मलय-सुरभि ला लाकर अन्य वृक्षों को सुवासित करता रहता और इस तरह उन्हें चन्दन बनाया करता है। इतना ही नहीं वही गाँव-गाँव और घर-घर उस सौरभ का प्रचार करता है और इस प्रकार चन्दन के अस्तित्व तथा प्रभाव का पता देकर लोक-कल्याण करता है। सन्तों ही की प्रेरणा से

लोग अपने अपने इष्टदेव को पहचानते, उसके ध्यान में तन्मय होते और उससे लाभान्वित होते हैं। इसलिए ऐसी स्थिति में संत समीर का दर्जा अधिक कि हरि-चन्दन तरु का दर्जा अधिक ? "गुरु गोविन्द दोउ खड़े काके लागँ पाय धन्यभाग्य उन गुरुन के जिन गोविन्द दिया बताय।" "कबीर के इस कथन को कितने अधिक काव्य माधुर्य से भरकर सामने उपस्थित कर दिया है गोस्वामी तुलसीदासजी ने।

अब अर्थ गाभीर्य के क्षेत्र में भी उनके कुछ नमूने देख लीजिये।

बन्दऊँ रामनाम रघुवर को

हेतु कृसानु भानु हिमकर को।

भारत के तीन वंश प्रसिद्ध हैं; सूर्यवंश, चन्द्रवंश और अग्निवंश। शास्त्रों में यही तीन ज्योतियां भी प्रसिद्ध हैं; एक भानु ज्योति एक हिमकर ज्योति और एक कृशानु ज्योति। इन्हीं के अनुसार मार्ग भी तीन ही कहे गये हैं। इन्हें ही प्रकारान्तर से ज्ञान मार्ग भक्ति मार्ग और कर्म मार्ग कहा जाता है। ज्ञान का सादृश्य भानु की स्वयं-प्रकाशता से है। भक्ति का सादृश्य हिमकर की शीतलता और रसार्द्रता से है। कर्म का सादृश्य यज्ञ के आधार अग्नि की स्फुरण-शीलता से है। जो कर्म मार्ग है वही अनासक्ति या वैराग्य मार्ग भी है। अग्नि का भगवा (गेरुआ) रंग वासनाएँ भस्म करने वाले वैराग्य का सुन्दर प्रतीक है ही। यह भी एक ध्यान देने योग्य संयोग है कि सूर्यवंश, चन्द्रवंश और अग्निवंश इन तीनों में ही एक-एक राम हुए हैं और वे तीनों ही अवतारी महापुरुष कहे जाते हैं। सूर्यवंश के हुए राजाराम, चन्द्रवंश के हुए

बलराम और अग्निवंश के हुए परशुराम। परन्तु रामनाम धारी इन तीनों महा पुरुषों में परम वन्दनीय नाम है सूर्यवंशी राम का रघुवंशी राम का, श्री रघुवरजी का। गोस्वामीजी ने उपर्युक्त पंक्तियों में उन्हीं के नाम की वन्दना की है। "वन्दउँ राम नाम रघुवर को।" 'राम' कहने से रघुवंशी राम का तात्पर्य लेना चाहिए। यही भक्ति मार्ग वालों का अभीष्ट है क्योंकि परमात्मा की कलाएँ न बलराम में उतनी अधिक प्रस्फुटित हो सकी हैं और न परशुराम में। अपनी असाधारणता के लिए वे भी अवतार कोटि में भले ही रख लिए जायँ परन्तु आदर्श तो रघुवंशी राम ही माने जायेंगे।

रघुवर दाशरथी के भी अनेकों नाम हो सकते हैं। राघवेन्द्र कोशलेन्द्र, लक्ष्मणाग्रज, दशरथ-तनय, सीता-पति आदि आदि अनेक नाम तो हैं उनके। इन सब नामों में रामनाम ही श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि न केवल व्युत्पत्ति के हिसाब से ही वरं और भी कई कारणों से यह नाम "सकल नामन तें अधिका" है। अतएव यही नाम सर्वप्रथम वन्दनीय है। फिर, यह भी समझ लिया जाय कि यद्यपि यह राघवेन्द्र का नाम कहा जाता है तो भी यह नाम अपने नामी (रामनाम धारी राघवेन्द्र) से किसी दर्जे कम नहीं है।

नामी हुआ एक विशिष्ट रूप। वह भी ब्रह्म की उपाधि है और नाम भी ब्रह्म की उपाधि है। रूप पहिले हुआ कि नाम यह कहना वहुत कठिन है। दोनों ही अनादि हैं, दोनों ही अकथ हैं। फिर भी सज्जनों ने रूप की अपेक्षा नाम को ही अधिक

महत्त्व दिया है। राम का रूप तो एक विशिष्ट देशकाल में बँध-कर एक विशिष्ट कुल में अपना व्यक्तित्व प्रकट कर चुका है। तीन-तीन कुल ऐसे हैं जिसमें 'राम' का रूप भिन्न-भिन्न ढंगों में प्रकट हुआ। परन्तु नाम की शक्ति ऐसी प्रबल है कि वह न केवल उन तीनों रूपों का अकेला द्योतक हैं वरं स्वतः उन तीनों कुलों का जनक भी कहा जा सकता है। समस्त संसार 'नाद' और विन्दु (ओंकार) से बना है। उसी ओं का दूसरा रूप है रां (विधि हरिहरमय वेद प्रान सो)। तब फिर रामनाम ही कृशानु भानु और हिमकर कुलों का भी हेतु क्यों न कहा जाय। यही नाम वेद-प्राण होने के कारण सगुण निर्गुण ब्रह्म का दूसरा नाम समझिये। अतएव नामी की वन्दना के पहले गोस्वामीजी ने उसके ऐसे नाम की वन्दना की जो न केवल उसके नराकार रूप को ही अपने में समेटे बैठा है वरं उसके सुराकार और निराकार तत्व का भी लक्ष्य करा देने की पूरी क्षमता रखता है।

संस्कृत में 'रघु' शब्द बना है गमनार्थक धातु से। अतएव रघुवर का अर्थ हुआ प्रगतिशील तत्त्वों में श्रेष्ठ। वह निश्चय ही होगा ईश्वर, जो आत्म विलास के लिए आत्मविकास करता जा रहा है। ऐसे परमात्मा का राम नाम ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनों का हेतु है—तीनों का देने वाला है। अतएव निश्चय ही वह प्रथम वन्दनीय है।

रामनाम वह नाम न समझा जाना चाहिए जो मुँह से निकला और हवा में उड़ गया। जो क्षर हो जाय, नाशमान् हो जाय, क्षण में बने और क्षण में बिगड़ भी जाय, वह अक्षर कैसा!

अक्षर वह जो क्षर रूपों का स्रष्टा हो किन्तु स्वतः क्षर न हो सके। ओं इसी दृष्टि से एकाक्षर ब्रह्म है। वही योगशास्त्र का शिव है। जब उसी एकनाद की विभिन्न ध्वनियाँ स्फुट होती हैं तब एक अक्षर पूरी वर्णमाला का रूप धारण करता है। इस माला का एक-एक वर्ण एक-एक बीज मन्त्र रहता है—एक-एक प्रकार की शक्ति का मूल बीज रहता है। जब सभी शक्तियों का विकास होकर पूरी माला शिव के कण्ठ का आभूषण हो जाती है तभी सच्चा शिव-शक्ति-संयोग होता है। अर्धनारीश्वरत्व अथवा नारीनटेश्वरत्व तभी स्पष्ट होता है। उन सभी शक्तियों में सूर्यशक्ति, चन्द्रशक्ति, और अग्निशक्ति श्रेष्ठ सबल शक्तियाँ हैं। इन तीनों शक्तियों को देनेवाले बीजमंत्र हैं र, आ और म। र अग्निबीज है आ आदित्य बीज अथवा सूर्यबीज तथा म चन्द्रबीज है। अतएव गोस्वामीजी, यहां, उस नाम की वन्दना कर रहे हैं जो इन त्रिशक्तियों का हेतु है न कि उस नाम की जो केवल बैखरी वाणी से बोल लिया जाता है और जो बोलते ही हवा में उड़ जाता है। बैखरी वाणी से गहरी है मध्यमावाणी। उससे भी गहरी है पश्यन्ती वाणी। और पश्यन्ती से भी गहरी है परावाणी जिसमें वास्तविक अक्षर की स्थापना रहा करती है।

सामान्य सी लगने वाली अपनी इस वन्दना में कितनी दूर तक का ध्यान रखा है गोस्वामीजी ने।

[२]

चातक कोकिल कीर चकोरा
कूजत विहग नटत कल मोरा।

जनक-वाटिका का वर्णन है, जहां कुमार राम और कुमारी सीता का प्रथम साक्षात्कार होनेवाला है। वह वाटिका ऐसी है जिसमें चातक, कोकिल, कीर चकोर पक्षी कूजन कर रहे हैं और सुन्दर मयूर नाच रहे हैं। ठीक है। चलते हुए टीकाकार कहेंगे कि वाटिका विभव के प्रदर्शन के लिए गोस्वामीजी ने कुछ पक्षियों के नाम गिना दिये। बस। परन्तु गम्भीर विचारक लोग इस तथाकथित नाम-गिनौवल में अर्थ-गौरव अथवा अर्थगाभीर्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण पा जायेंगे।

साहित्य-रसिक जानते हैं कि कोकिल वसंत में ही बोलती है "सुनि पावस को आगमन, धरैं कोकिला मौन।" उस वाटिका में कोकिला तो बोल ही रही थी। साहित्यकार यह भी जानता है कि मोर वर्षा ऋतु में ही नाचता है "नाचत वारिद पेखि।" उस वाटिका में मोर तो नाच ही रहा था। तब ? तब क्या इन पक्षियों के बहाने गोस्वामी जी ने उस बाटिका में विभिन्न ऋतुओं का वैभव एक साथ वर्तमान करा दिया है ? बात बिलकुल यही है।

चातक स्वाती का जल पाकर ही कूज सकता है—चहचहा सकता है। स्वाती नक्षत्र आता है वर्षा के बाद शरद ऋतु में। कोकिल वसन्त का पक्षी है ही। कीर ग्रीष्म ऋतु का संकेत कर रहा है क्योंकि चोंच मारने को उसी समय बहुत से पके फल मिला करते हैं। चकोर खूब शीतल चंद्रिका चाहने वाला पक्षी होने के कारण शिशिर ऋतु का द्योतन कर रहा है। 'विहंग' (अर्थात् आकाश-गामी) उन पक्षियों की ओर संकेत कर रहा है

जो पंक्ति बाँध कर आकाश मार्ग से प्रति शीतकाल भारत की ओर आते और शीत की समाप्ति के बाद हिमालय की ओर वापस चले जाते हैं ! उनका पंक्तिबद्ध आकाशगमन दर्शनीय रहता है। इन्हें स्पष्ट ही हेमन्त के पक्षी कहा जा सकता है। मोर तो वर्षा का पक्षी है ही। तब पूरी पंक्ति से यही प्रतीत हुआ कि उस वाटिका में छहों ऋतुओं के अनुकूल सामग्री विद्यमान थी।

इन ऋतुओं के द्योतक पक्षियों में "चातक-कोकिल कीर चकोर" का ही क्रम क्यों रखा गया है, और विहंगों ही तक का कूजना तथा मोर का नृत्य करना क्यों कहा गया है, इसका भी कारण है। परन्तु उस कारण का रहस्य आगे खुलेगा। वर्तमान अर्थ में तो यह क्रम यही बताता है कि उस वाटिका में प्रकृति की ऋतुएं अपना पूर्वापर क्रम त्याग कर बसी हुई थीं। यहाँ देखिये तो चातक की शरद् है, वहाँ देखिये तो कोकिल की वसंत अपनी छटा लिए हुए खड़ी है। उस ओर कीर के ग्रीष्म का गौरव लदा हुआ है तो इस ओर चकोर का प्रिय शिशिर-शैत्य अपना चमत्कार दिखा रहा है। कहीं हेमन्त है तो कहीं वर्षा का रंग जमा हुआ है।

राम के लिए ऋतुओं का कालगति त्याग कर उस वाटिका में बस जाना कौन आश्चर्य की बात थी ! गोस्वामी जी एक जगह कह ही गये हैं "सब तरु फरे रामहित लागी, रितु अरु कुरितु कालगति त्यागी।" इसी वाटिका प्रसङ्ग के आरंभ में उन्होंने कहा "भूप बाग बर देखेउ जाई, जहं वसन्त रितु रही लुभाई।" "रामचरित-पुष्पांजलि के अनुसार पुष्पवाटिका का प्रसंग कुँवार

सुदी तेरस को सम्पन्न हुआ था। अतः स्पष्ट ही उस समय वसन्त ऋतु तो नहीं थी। परन्तु वाटिका में वसन्त ऋतु लुब्ध हो कर अटकी रह गई थी ऐसा यह आरम्भ की पंक्ति बता रही है। जब वसन्त ने अपना कालक्रम त्यागा तब अन्य ऋतुएं कब पीछे रहने वाली थीं। उन्होंने भी अपना कालक्रम त्याग कर उस बाग में अपना वैभव बिखेर दिया। कुमार राम और कुमारी सीता के प्रथम साक्षात्कार के ससय उद्दीपन विभाग भी तो अपनी पूरी कला के साथ प्रकट हो जाना चाहते थे। षड्ऋतुओं के वैभव से बढ़कर और कौन उद्दीपन सामग्री उस प्रथम साक्षात्कार में अपना चमत्कार दिखा सकती थी ?

कोकिल (वसन्त) का नम्बर ठीक चातक (शरद) के बाद ही रखा गया है क्योंकि आश्विन सुदी तेरस के विचार से शरद को प्रथम स्थान देना आवश्यक ही था। वस्तुतः तो उस समय शरद का ही साम्राज्य था। दूसरी-ऋतुएँ तो जबरदस्ती आ धमकी थीं। हाँ, उद्दीपन सामग्री में वसन्त का बड़ा मान है। उसकी महत्ता का उल्लेख गोस्वामी जी पहली पंक्ति में कर ही आये हैं। अतः शरद के बाद बसन्त का उल्लेख होना ही चाहिए था।

उद्दीपन के वैभव में नेत्रेन्द्रिय का परम आकर्षक नृत्य और श्रवणेन्द्रिय का परम आकर्षक कल-कूजन (गीत), अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। अतः गीत और नृत्य को ही इस वर्णन में विशेष महत्व दिया गया है।

अब ज़रा और ऊँचे उठिये। समाधिभाषा की यह पंक्ति केवल लौकिक अर्थ ही दिखा कर रह जाय, यह कैसे हो सकता

उनका वाक्य-विन्यास कौशल भी ग़ज़ब का है। बातें सभी कोई कर सकते हैं पर बातें करने की भी एक कला होती है जिसमें विरले लोग ही दक्ष हुआ करते हैं।

"भवन्ति ते सभ्यतमाः विपश्चितां, मनोगतं वाचिनिवेशयन्ति ये।"

मनोगत भाव को वाणी में जो ठीक-ठीक उतार सके उसे ही विद्वानों में सभ्य कहा जाता है।

गोस्वामीजी की यह कला नीचे लिखे उदाहरण में देखिये।

हनुमानजी समुद्र लाँघकर लंका पहुँचना चाहते हैं। देवगण उनके बल और बुद्धि का पता लगाने सुरसा को भेजते हैं। सुरसा आकर उनका पथ रोकती हुई कहती है "आजु सुरन्ह मोहिं दीन्ह अहारा" इतना सुनते ही हनुमानजी कह उठते हैं :—

राम-काजु करि फिरि मैं आवउँ,
सीता कै सुधि, प्रभुहिं सुनावउँ।
तब तुअ वदन पैठिहउं आई,
सत्य कहउं, मोहिं जाने दे माई॥

हनुमानजी की मनःस्थिति का अन्दाजा लगाइये। वे शीघ्रातिशीघ्र लंका पहुँच जाना चाहते हैं इसलिए किसी प्रकार का अड़ंगा उन्हें बरदाश्त नहीं। फिर भी, देवों की ओर से आई हुई सुरसा से उलझ पड़ना भी बुद्धिमानी की बात न होगी। अतएव वे नीति-कौशल से काम लेना चाहते हैं। नीति-कौशल के चार ही अंग हैं—साम, दाम, दण्ड, भेद। चारों का प्रयोग उन्हें एक से अधिक बार करना पड़ता है, परन्तु त्वरा का तकाज़ा है कि बहस मुबाहिसे को संक्षिप्त से संक्षिप्त बनाया जाय। इसीलिए हनुमानजी ने

सौ-सौ बहस के प्रबन्धों को उपर्युक्त एक ही वाक्य में भर दिया है।

सुरसा ने कहा, देवताओं ने उसे यह बानर-रूपी आहार दिया है। हनुमान जी कह रहे हैं कि देवताओं के कार्य के लिए ही तो राम का अवतार हुआ है और राम के कार्य के लिये ही तो मैं लंका जा रहा हूँ। अतः मेरे भक्षित हो जाने पर वह कार्य कैसे होगा। तब, जिन देवों ने तुम्हें आहार दिया है उनके कार्य का विचार करते हुए तुम्हें चाहिए कि तुम मुझे छोड़ दो। देवकार्य की पूर्ति का साधन ही है 'रामकाजु'। अतएव हनुमानजी सबसे पहले इसी शब्द का प्रयोग करते हैं।

परन्तु तीर निशाने पर नहीं लगता। सुरसा टस-से-मस नहीं होती। हनुमानजी सोचते हैं कि सुरसा कदाचित् सोच रही है कि रामकार्य इस लघु कपि द्वारा हो सकेगा या नहीं। वे दृढ़तापूर्वक अपनी निश्चयात्मकता बताते हुए 'करि' शब्द का प्रयोग करते हैं। मैं रामकाज निश्चय ही करूँगा—यह बात इस 'करि' से ध्वनित हो रही है। तुम देवताओं की भेजी हुई अहिमाता हो, राम देवाधिदेव हैं, उन्होंने मुझे अपना कार्य सौंपा है, वह मुझ से पूरा होगा ही, अतः मेरे पथ की बाधक न बनकर तुम भी इस पुण्यकार्य का कुछ सुयश लो। यह हुई साम नीति।

हनुमानजी ने दो शब्दों में पूरी साम नीति बरत डाली परन्तु सुरसा पर कुछ असर न हुआ। तब हनुमानजी दाम नीति का प्रयोग करते हैं। 'फिरि मैं आवउं' लौटने की बात कह रहे हैं। कह रहे हैं कि तुम्हें तो खाने से मतलब है। सो, ज़रा ठहर

जाओ मैं अभी लौट आता हूँ फिर मुझे खा जाना। इतना मान लेने से रामकाज भी हो जायगा और तुम्हारा आहार भी मिल जायगा। तुम्हें यश भी मिल जायगा और तुम्हारी क्षुधानिवृत्ति भी हो जायगी। तुम्हारे दोनों हाथों लड्डू हो जायँगे। परन्तु दामनीति का यह दाँव असफल ही रहा। तब हनुमान जी एक दूसरा दाँव फेंकते हैं। नारी नारी के लिए स्वभावतः ही सहानुभूतिशीला होती है। एक नारी संकटापन्न है, उसकी सुधि लेना है, और वह नारी भी सामान्य नहीं, पृथ्वी पुत्री सीता है, उस पृथ्वी की पुत्री जिसके साथ नागों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे कहते हैं 'सीता कै सुधि' परन्तु दोनों दाँवों की दामनीति सुरसा के सामने विफल हो जाती है।

विवश होकर हनुमान जी तुरन्त तीसरी नीति के प्रयोग का संकेत करते हैं। 'प्रभुहिं सुनावउँ' 'वे प्रभु हैं जिनका कार्य करने मैं जा रहा हूँ। राम को सामान्य न समझो। मुझे प्रभु के पास पहुँच कर सीता की सुध सुनाना है। यदि तुम बाधा दोगी तो संभव है वे रुष्ट हो कर तुम्हें कड़ा दण्ड दें।' परन्तु सुरसा फिर भी अचल अटल बनी रहती है।

हनुमान जी अब अपने को विपक्षी की परिस्थिति में रखकर सोचते हैं। भूखा व्यक्ति न तो शब्दों की ऊहापोह में जाता है और न क्षुधा निवृत्ति के सिवा और कोई बात सुनना चाहता है। अतः वे स्पष्ट शब्दों में फिर दाम नीति पर आते हुए कहते हैं "तब तुव बदन पैठिहउँ आई।" "मैं स्वतः आकर तुम्हारा आहार बन जाऊँगा। तुम्हें मुझे ढूंढ़ने की मिहनत न करनी पड़ेगी।

यही नहीं, चबाने की भी मिहनत न करनी पड़ेगी। मैं तुम्हारे मुँह में ही पैठ जाऊँगा। परन्तु सुरसा विश्वास करे तब न? अतः हनुमान जी फिर सामनीति पर आते हुए, पहले कसमें खा-खा कर वादे करते हैं, 'सत्य कहहुँ', और फिर 'मोहिं जान दे' कह कर अनुनय-विनय का ताँता बाँध देते हैं। परन्तु हनुमान जी के ये सब वाक्प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं।

जब यह हाल देखते हैं तब वे अन्तिम नीति का प्रयोग करते हुए 'माई' शब्द से सुरसा को सम्बोधित करते हैं। 'माता का अपने बच्चों के प्रति स्वाभाविक पक्षपात रहता है। देवगण तो सुरसा को सहयोगिनी ही समझ कर उसके आहार के लिए इधर इशारा कर चुके हैं परन्तु मैं जब उसे माता ही बना लूँगा तब तो निश्चय ही उसका प्रेम देवताओं की अपेक्षा मेरे प्रति अधिक हो जायगा। बस, दोनों के बीच—देवताओं और सुरसा के बीच, भेद नीति काम दे जायगी और मैं बच जाऊंगा। दिव्य नारी होने के कारण, इस माता शब्द के सुनने मात्र से, उसमें मातृत्व प्रेम उमड़ पड़ेगा और फिर वह मेरे लिए बाधक न बनेगी।' यह सब तो सोचा हनुमान जी ने परन्तु अपनी त्वरा में उन्हें ध्यान न रहा कि सुरसा तो सर्पों की माता थी ऐसी साँपिन जो अपने बच्चों तक को खा जाया करती है। अतएव जब भेदनीति का यह वार भी खाली गया तब बहस मुबाहिसे का पथ त्याग कर हनुमान जी को 'सीधी चोट' (डाइरेक्ट एक्शन) का पथ पकड़ना पड़ा। तभी तो गोस्वामी जी ने इन पंक्तियों के आगे कहा "कवनहु जतन देइ नहिं जाना, ग्रससि न मोहिं कहेउ हनुमाना।

लोग कहते हैं कि अमरुक कवि का एक श्लोक सौ-सौ प्रबन्धों के बराबर रहा करता है। वह हो या न हो, परन्तु गोस्वामीजी की यह पंक्ति तो निश्चय ही सौ-सौ प्रबन्धों को समेटे बैठी है। कितने थोड़े शब्दों में कितनी लम्बी-लम्बी दलीलें भर दी गई हैं।

एक और उदारण देखिये। प्रथम साक्षात्कार में सीताजी रामचन्द्रजी की नखशिख शोभा देख रही हैं। उन्हें देशकाल का भान भूल चुका है। सखियाँ अनुभव कर रही हैं कि बहुत देरी हो चुकी है। 'भये गहरु सब कहहिं सभीता।' वे भयभीत होकर आपस में इस देरी की चर्चा भी कर रही हैं। परन्तु सीताजी के कान मानों उस ओर हैं ही नहीं। अब सीताजी से कहे कौन कि घर चलना चाहिए। सखियाँ सीताजी को चेतावनी भी देना चाहती हैं परन्तु उनकी अप्रिय भी नहीं बनना चाहती। श्रेय और प्रेय का निर्वाह एक साथ कैसे हो? शब्द कौन हों जो सत्य की भी रक्षा कर सकें और प्रिय होकर भी निकलें। वाक्य-विन्यास का यही तो कौशल है। मनोगत भाव को उपयुक्त भाषा में व्यक्त करने की परख के ऐसे अवसर यदा कदा ही आया करते हैं।

आख़िर एक आली का दिमाग़ दौड़ा। उसने सोचा 'अधिक देखा-देखी ठीक नहीं, अब घर चलना चाहिए; इस कटु सत्य की व्यञ्जना करने वाला एक भाव है जो स्वतः इतना कटु नहीं। वह है समय के संकेत का भाव। 'दिन बहुत चढ़ चुका' का संकेत हो जायगा तो "अब देखा देखी बन्द करके घर चलना चाहिए" भी संकेतित हो जायगा। अतएव जैसे भी हो

'येहि बिरिया' पर सीताजी का ध्यान तो आकृष्ट किया ही जाय। परन्तु यह भी उक्ति यद्यपि अकटु न होगी तो भी प्रिय भी तो न होगी क्योंकि सीताजी तो इस समय रूपसुधा का पान कर रही हैं और यह उक्ति उनको उस सुधापान से हटाने वाली ही समझी जायगी। तब ? तब उत्तम यह होगा कि इस उक्ति के साथ भावी सुधापान की आशा भी बाँध दी जाय। इस समय तो सीताजी को हटा ले जाया जाय फिर कल की कल देखी जायगी। अतएव 'इहि बिरिया' के साथ 'पुनि आउब' की बात जोड़कर कही जाय।

परन्तु सीताजी सोच करती हैं कि इसका क्या निश्चय कि ये राजकुमार कल फिर यहाँ पहुँचेगे ही। अतएव उत्तम यह होगा कि वाक्य ज़रा ज़ोर से कहा जाय और 'काल्हि' को दीर्घाक्षरी 'काली' बनाकर, जोर देने के लिए अन्त में कहा जाय ताकि राजकुमार भी उसे सुनकर मनमें गुन लें और सीताजी भी यह जान समझ कर आश्वस्त हो जाँय। सखियाँ तो आपस में कहा सुनी कर ही रहीं थीं जिसकी ओर सीताजी का ध्यान तक न था। अतएव अब सीताजी को तो, जोर से बोलकर ही समझाना पड़ेगा। वह वाक्य स्वभावतः ही राम के कर्णगोचर हो जायगा। बस, वाक्य बन गया "पुनि आउब एहि बिरियाँ काली।" 'इसमें चेतावनी तो है ही, साथ ही भावी संयोग की आशा ही नहीं विश्वास से भी, यह वाक्य भरपूर है। अतएव यह किसी प्रकार अप्रिय लगेगा ही नहीं। यह वाक्य उभयपक्ष का प्रियकर होते हुए भी निश्चय ही सच्चा कार्य साधक होगा।' प्रसन्न हो गया

उस आली का मस्तिष्क। बोल बैठी वह "पुनि आउब एहि बिरियाँ काली।"

वाक्य स्फुट स्वर में उच्चारित होकर एक नया अर्थ भी ध्वनित कर चला। सामान्य वाक्य प्रश्नात्मक ढंग पर कहा जाकर कभी-कभी नया सा अर्थ देने लग जाता है। ध्वनि विकार वाली काकूक्तियाँ प्रसिद्ध ही हैं। कहते कहते ध्वनि घूम जाने से कभी कभी अर्थ भी घूम जाता है। 'पुनि आउब एहि बिरियाँ काली' को ज़रा प्रश्नवाचक ढंग पर दुहरा दीजिये तो अर्थ हो जायगा "क्या फिर भी कल ऐसी बेला मिलने वाली है? अजी कल तो हम धनुष यज्ञ के आयोजन में अटक जायँगी, अतएव आज का यह अवसर हाथ से न जाने दो। जी भर कर रूप सुधा का पान करती ही रहो।" सखी कहने को तो 'पुनि आउब एहि बिरियां काली' कह गई परन्तु जब उससे यह भी अर्थ ध्वनित हो चला, तब अपनी उक्ति पर स्वतः उसे भी हँसी आ गई। "अस कहि, मन विहँसी एक आली"।

वह हँसी ही नहीं, विहँसी भी; क्योंकि उसके वाक्य में कान्तासम्मत उपदेश-प्रणाली एकदम सीमा को ही पार कर चुकी थी। परन्तु ये सब तरंगें तो उसके ही दिमाग़ की सूझ से सम्बन्ध रख रही थीं, दूसरा इन्हें समझाये बिना क्या समझता? प्रत्यक्ष का हँस पड़ना अप्रासंगिक होकर वाक्य के असर को बिगाड़ देता। अतएव सखी ने मन का विहँसना मन ही मन में दबा रखा। परन्तु गोस्वामीजी तो अपनी प्रतिभा की निगाहों से सखी की मनोवृत्ति पूरी पूरी देख रहे थे, अतएव उन्होंने पूरी

पंक्ति लिखी "पुनि आउब एहि बिरियां काली, अस कहि मन विहँसी एक आली।"

आली तो वाक्य कहकर मन में विहँस उठी परन्तु उस गिराने, गूढ़ होते हुए भी, सीताजी के विवेक पर असर बराबर किया। "गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी, भयउ विलम्ब मातु भय मानी।"

इसी सिलसिले में वाक्य-विन्यास की एक और छटा देख लीजिए, जिसके सम्बन्ध में गोस्वामीजी ने, गूढ़ ही नहीं किन्तु मृदु और गूढ़ दोनों ही विशेषण लगाये हैं। 'सुनि मृदु गूढ़ वचन रघुपति के, उघरे पटल परसुधर मति के।' वाक्य इतना कौशलपूर्ण था कि परशुरामजी ने 'जयति वचन रचना अति नागर' कहकर उसके प्रयोक्ता के नाते राम को मानों बिना मांगी एक सर्टीफ़िकेट ही प्रदान कर दी है। वाक्य है :—

"बिप्रबंस कै असि प्रभुताई
अभय होइ जो तुम्हहि डराई।"

शरीर से राम क्षत्रिय हैं और परशुराम ब्राह्मण हैं। आत्मा से राम परब्रह्म हैं और परशुराम हैं विष्णु के अंशावतार। राम चाहते हैं कि परशुराम को तत्वबोध हो जाय परन्तु वे परिस्थिति की मर्यादा का उल्लंघन भी नहीं करना चाहते! इसीलिए उन्होंने मृदु गूढ़ वाक्य का प्रयोग किया। वाक्य के मृदु अर्थ में वे अपना माधुर्य-भाव सुन्दरता से निभा लेते हैं—अपनी नम्रता को अपने पास से हटने नहीं देते, और गूढ़ अर्थ में वे अपना ऐश्वर्य-भाव सुन्दरता से प्रकट कर देते हैं,—संकेत का तीव्र अंजन देकर परशुराम की मति की आँखें खोल देते हैं।

उपर्युक्त एक वाक्य के चार अर्थों का मुलाहिज़ा कीजिए :—

(१) "विप्रवंश की ऐसी महत्ता है कि जो क्षत्रिय आप लोगों को (ब्राह्मण लोगों को) डरकर चलता है, वही वास्तव में अभय होता है।

(२) "विप्रवंश की इसीलिए इतनी प्रभुता है कि वह आपको (वैष्णव अंश को) डरता हुआ (अर्थात् आस्तिक्य-भाववान् होता हुआ) इस संसार में अभय रहता है।"

(३) "यह विप्रवंश ही की ऐसी प्रभुता है जिसके कारण अभय ब्रह्म (अर्थात् जो अभय है वह भी) आप से डर रहा है।" कहने का अर्थ यह कि मैं अभय ब्रह्म होकर भी जो आपसे डरता चला आ रहा हूं वह केवल ब्रह्मण्यता की मर्यादा के संस्थापन की दृष्टि से ही।

(४) "विप्रवंश स्वीकार करके आप ऐसी प्रभुता दिखा रहे हैं ? (आपको तो ब्राह्म शान्ति ही धारण करनी चाहिए)। आपको अपने ईश्वरभाव के नाते यह जान लेना चाहिए कि जो प्रत्यक्ष में आपसे डर रहा है वह वास्तव में अभय है।"

पहिले अर्थ में राम के क्षत्रिय शरीर की प्रधानता है। उस अर्थ में उनकी नम्रता टपकी पड़ती है। दूसरे अर्थ में परशुराम के ब्राह्मण शरीर की प्रधानता है। इस अर्थ में भी राम की नम्रता भरी है। पहले अर्थ में ध्वनित हुआ कि ब्राह्मण कैसा भी हो फिर भी वह क्षत्रिय के लिए पूज्य है। दूसरे अर्थ में ध्वनित हुआ कि ब्राह्मण इसीलिए पूज्य है क्योंकि वह ईश्वर से डरकर चलता है। यदि वह अनात्मपरक अहं को पकड़ बैठे तो सम्भव

है कि अपूज्य भी हो जाय । तीसरे अर्थ में राम के ब्रह्मत्व की प्रधानता है, साथ ही हलकी सी नसीहत की गूढ़ता भी है। चौथे अर्थ में परशुराम के विष्णुत्व की प्रधानता है परन्तु साथ ही साथ तीखी नसीहत की गूढ़ता भी भरी है।

उचित ही किया गोस्वामीजी ने, यदि राम के इस वाक्य के बाद ही कहा—"सुनि मृदु गुढ़ वचन रघुपति के, उघरे पटल परसुधर मति के।'

अब कुछ शब्द-चित्र भी देख लिए जाँय। जड़ चित्र—अप्रगतिशील चित्र,—तो कई लोग खींच सकते हैं परन्तु चेतन चित्र खींचना गोस्वामीजी के से कवि-सम्राट का ही काम था। 'परम प्रेममय मृदु मसि कीन्हीं, चारुचित्त भित्तिहिं लिखि लीन्ही।' प्रेम का हुआ रङ्ग और चित्र की हुई भित्ति। रङ्ग और फलक (केन्वास) दोनों ही प्रगतिशील ठहरे। दोनों ही चेतन चित्र के सर्वथा अनुकूल। जो क्षण क्षण में नवीनता धारण कर सके उसीका नाम है सुन्दरता। "क्षणेक्षणे यन्नवतां विधत्ते तदेवरूपं रमणीयताया"। सीताजी का रूप-चित्र जितनी 'क्षणे क्षणे नवता' धारण करना चाहे—वह जितना प्रगतिशील होना चाहे—उतना हो जाय, इसकी पूरी सामग्री गोस्वामीजी ने जुटा दी। जड़ चित्र की जगह एक जीवन्त प्रगतिशील चेतन चित्र खिंच गया। इस चित्र के लिए तो रङ्ग और फलक की भी आवश्यकता हुई, परन्तु कई चेतन चित्र गोस्वामीजी ने केवल अपने शब्दों के सहारे उपस्थित कर दिये हैं जिनके लिए न किसी खास रङ्ग की कल्पना करनी पड़ी है न किसी खास झलक की।

एक चित्र है :—

"प्रश्न उमाकर सहज सुहाई, छल विहीन सुनि सिवमन भाई।
हरहिय रामचरित सब आये, प्रेम पुलक लोचन जल छाये॥
श्री रघुनाथ रूप उर आवा, परमानन्द अमित सुख पावा।
मगन ध्यान-रस दण्ड जुग, पुनिमन बाहेर कीन्ह॥
रघुपति चरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह।

सामान्य कवि लोग उमा से प्रश्न पुछवा देते और शङ्कर से उत्तर दिला देते। सामान्य कवियों की कौन कहे, स्वतः आध्यात्म-रामायणकार ने भी यही क्रम अपनाया है। परन्तु गोस्वामीजी को इतने से सन्तोष कैसे हो सकता था। वक्ता जब तक अपने विषय में रङ्ग न उठे तब तक उसकी उक्ति में वह अधिकार कैसे आयगा? और वक्ता अपने विषय में रङ्ग उठा है इसका पता तभी लग सकता है जब कोई कुशल चित्रकार उस वक्ता के दिल और दिमाग़ की तस्वीर खींच दे—हृदय और मस्तिष्क का एक सजीव चित्र अङ्कित कर दे। गोस्वामीजी ने उपर्युक्त पंक्तियों में यही किया है।

प्रश्नों को सुनते ही इधर, शंकरजी के मस्तिष्क के चित्रपट पर, सिनेमा फिल्म की तरह, राम के सब चरित्र दौड़ गये—सबका मानों सामूहिक दर्शन हो गया, और उधर, उनका हृदय इतना भाव-विभोर (प्रेमार्द्र) हो गया कि वह अनुभावों में छलक उठा—शरीर पर पुलकावली छा गई, नयनों में नीर भर उठा। मस्तिष्क और हृदय की इस प्रगतिशील अवस्था को स्थिरता मिली अपने अपने 'क्लाइमेक्स पर। चरित्रों की चलचित्रावली से

चलकर मस्तिष्क का मन रघुनाथ के ललित ललाम लावण्यमय रूप पर अटक गया। चित्रपट पर वह रूप आया और उज्ज्वलतम होता चला। वह हटा नहीं किन्तु वहीं नवनवोन्मेष प्रदायक आकर्षण बढ़ाता गया। इधर भाव विभोर हृदय अनुभावों तक ही बिखर कर नहीं रह गया किन्तु परमानन्द प्राप्त कर समाधिस्थ सा हो गया।

दिल और दिमाग दोनों ही 'ध्यान रस' में इतने निमग्न हो गये कि वाणी आप ही आप मौन हो गई। न जाने कितने समय तक यह अवस्था रही होगी। शंकरजी के वे दो दण्ड कितने लम्बे हुए होंगे कदाचित वे भी न कह सकें। तदनन्तर, उन्होंने जब प्रयत्न पूर्वक अपने मन को उस ध्यान-रस के दिव्य आनन्द से बाहर किया, तब कहीं वे उत्तर दे सके। फिर तो रस आप ही उत्तर के रूप में बह चला। कथा की पीयूष-वर्षा आप ही हो चली।

यह है उस समय का एक चेतन-चित्र जिसे गोस्वामीजी ने अपने शब्दों द्वारा चित्रित किया है। नौ रसों तक ही काव्य की सीमाएँ समझनेवाले काव्याचार्यों को, लोकोत्तर 'ध्यान रस' की यह झांकी दिखा देना, गोस्वामीजी का ही काम था।

एक दूसरा शब्द-चित्र देखिये—"बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी, पियतन चितइ भौंह करि बाँकी। खंजन मंजु तिरीछे नयननि, निजपति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि। भईं मुदित सब ग्राम बधूटी, रंकन्हराय रासि जनु लूटी।" रामवनयात्रा का प्रसङ्ग है। ग्रामीण स्त्रियाँ बारम्बार सीता का पद-वन्दन कर उन्हें अपने प्रति सदय और सौहार्द-शील बना चुकी हैं। राम का अलौकिक रूप-लावण्य उन्हें

मुग्ध कर रहा है। अतः वे हृदय-विमोहन-विषयक चर्चा-सुख का रस तो लेना ही चाहती हैं। उस रस के लिए सीता ही उनका माध्यम बन सकती थीं। अतएव सीता को सानुकूल बनाकर वे प्रश्न कर रही हैं "चितै तुम्ह जो हमारो मन मोहैं," वे "सांवरे से सखि सुन्दर को हैं"। यह प्रश्न किसी जिज्ञासातृप्ति के लिए नहीं, किन्तु रस की वृद्धि के लिए किया गया है क्योंकि जिज्ञासा तृप्ति तो अन्दाज़ से भी हो सकती थी। रस की अभिव्यंजना की भाषा कुछ दूसरी ही हुआ करती है। उस भाषा के लिए जीभ् काम नहीं देती, आँखें काम देती हैं। "नेत्रवक्र विकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः।" सीताजी, एक ओर तो उन सरल ग्राम वधूटियों का सौहार्द भी नहीं तोड़ना चाहतीं और दूसरी ओर, कुलवधू की मर्यादा की भी पूर्ण रक्षाकर लेना चाहती हैं। अतः भौहों और आँखों की वाणी उनकी सहायता के लिए अग्रसर हो उठती है। स्वभावतः ही लज्जा का अंचल मुख की उज्वलता पर लालिमा का पर्दा छा देता है और खिलाड़ी खंजन ज़रा तिरछे हो जाते हैं। मृगशावक की आँखों के समान निश्छल विकसित आँखें खंजन के आकार की सी कुछ बंकिमा धारण कर लेती है। भौहें भी आँखों का साथ देती हैं। एक पल में ही यह सब घटना घट जाती है और हृदय की वाणी मौन संकेतों में यह स्पष्ट कर देती है कि राम सीताजी के कौन हैं।

विश्वविमोहन होते हुए भी वे उनके 'निजपति' हैं। राम की दृष्टि सीता ही की ओर होगी। यदि अन्य नारियाँ उन्हें

अपना मनमोहन मान रही हों तो माना करें, इस पर न सीताजी को द्वेष होगा और न रोष होगा क्योंकि उन्हें तो 'निज-पतित्व' पर अटल विश्वास है। हृदय की वाणी में यह विश्वास-पूर्ण परिचय देते हुए मानो सीताजी ग्रामवधूटियों को आमंत्रित कर रही हैं कि वे राम की रूप माधुरी का, निर्मल निश्छल भाव से, बिना किसी झिझक के, रसपान करें।

राम, सीताजी को तो 'चितै' ही रहे थे। पियूषवर्षी मौन-संकेत की वह झांकी उन्होंने देखी ही होगी। अब तक ग्राम-वधूटियों को सीता का सौहार्द मिल चुका था; अतएव, ग्राम-वधूटियों ने इस संकेत का रसपान किस प्रकार किया यह देखने का औत्सुक्य कदाचित् राम के नयनों को भीं एक क्षण के लिए सीता की इन नवीन सखियों की ओर फेर ही सका होगा। ग्राम-वधूटियों के सौभाग्य का फिर क्या पूछना था। उन्हें मन चाही सिद्धि अनायास प्राप्त हो गई!! "भईं मुदित सब ग्राम वधूटी; रंकन्ह राय रासि जनु लूटी।"

जो सरला बालाएँ अपना मन खो चुकी थीं, उन्हें 'कोटि मनोज लजावन हारे' की रूप-सुधा का रसपान करने का सौहार्द-पूर्ण अधिकार मिल गया। रूप की राजकीय राशि को लूटकर अपने हृदय में भर लेने का उन्हें निर्बाध अवसर प्रदान कर दिया गया। जो भावरङ्क थीं, राम के निर्बाध दर्शनों के लिए जिनके मनमें सीताजी के कारण कुछ झिझक सी हो रही थी, कुछ डर सा लग रहा था, वे ही, सीताजी की कृपा से, भाव-राज-राशि की लूट की अधिकारिणी हो गईं। अधिकारिणी ही होकर वे नहीं रह

गईं, किन्तु वस्तुतः लूट भी मचा दी उन्होंने। 'भईं मुदित सब ग्राम-वधूटी, रंकन्ह राय रासि जनु लूटी।'

एक छोटे से शब्द-चित्र में भावों की 'राजराशि' लुटा सकने वाले गोस्वामीजी के काव्य-सौष्ठव पर जो कहा जाय वही थोड़ा है। शब्द सान्त हैं, कहना अनन्त है।